॥ ओ३म् ॥

दो बहिनों की धार्मिक बातें

(महिलाओं को धार्मिक और विदुषी बनाने वाली सरल पुस्तक)

लेखक :

आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक'

प्रकाशक :

सत्यधर्म-प्रकाशन

गुरुकुल भैयापुर-लाढ़ौत (रोहतक) हरयाणा

सम्पर्क : ०९२१३३२६५५२

प्रकाशक :
सत्यधर्म-प्रकाशन
गुरुकुल भैयापुर लाढ़ौत (रोहतक) हरयाणा
सम्पर्क : ०९२१३३२६५५२

पुस्तकप्राप्ति-स्थान:
१. **हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर
हरयाणा-१२४१०३
२. **आर्यसमाज मन्दिर काकरिया**
रायपुर दरवाजे से बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)
३. **कन्या गुरुकुल महाविद्यालय चोटीपुरा**
जिला ज्योतिसनगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश
४. **आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा**
अहमदाबाद

संस्करण : दीपावली २०६३ विक्रमी संवत्, २००६

मूल्य : ४०.०० रुपये

मुद्रक : **अजय प्रिन्टर्स**, दिल्ली

भूमिका

गृहस्थों के लिए अनुपम पुस्तक

वैदिक व्यवस्था में कहा गया है–'माता निर्मात्री भवति' अर्थात् वस्तुतः माता सन्तान का निर्माण करने वाली होती है। यह कथन सही भी है, क्योंकि गर्भ से लेकर शिक्षा–संस्थान में जाने तक सन्तान माता की गोद में पलती है। वही समय उस के जीवन की नींव है। उस काल में उसे जैसा वातावरण, पालन–पोषण, रहन–सहन, भोजन–छादन, संस्कार–शिक्षण मिलेगा, सन्तान वैसी ही बनेगी। इस के लिए आवश्यक है कि माता स्वयं सुशिक्षित, सुसंस्कृत और धार्मिक हो। माता अनपढ़, मूर्ख होगी तो सन्तान बुद्धिमती कैसे हो सकेगी ? जब भवन का निर्माता ही अप्रशिक्षित होगा तो वह भवन सुन्दर और सुदृढ़ कैसे बन सकता है ? इसलिए वैदिक संस्कृति–सभ्यता में माता–पिता की सुशिक्षा और धार्मिकता पर विशेष बल दिया गया है।

दुर्भाग्य और दुःख की बात है कि इस देश के इतिहास के पिछले कुछ हजार वर्ष ऐसे बीते जिनमें इस देश में संकीर्ण, रूढ़िवादी और भेदभावपूर्ण विचारधारा पनपी। जिस के कारण सारी नारी जाति को ही शिक्षा और धार्मिकता से वंचित कर दिया गया। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों को भी अनधिकारी कहकर शिक्षा और धार्मिकता से वंचित कर दिया। इस का जो भयंकर परिणाम होना था, वही हुआ। देश अशिक्षा, अज्ञान के गर्त में डूबता चला गया। बौद्धिक उन्नति से वंचित होता गया और इतना पिछड़ा कि अपनी आजादी भी खो बैठा। परिणाम स्वरूप एक हजार वर्ष तक गुलाम बना रहा। इस बीच यह देश अपने सिद्धान्तों, अपनी संस्कृति–सभ्यता, आचार–विचार, धर्म–इतिहास को भी भूल गया।

इस पुस्तक के द्वारा महिलाओं को वैदिक अर्थात् भारतीय धर्म के स्वरूप, मूलभूत सिद्धान्तों, गृहस्थ धर्मों और सामान्य ज्ञान की जानकारी देते हुए अन्धविश्वासों, अज्ञान–अशिक्षा की बातों को साधारण तर्कों से समझाया गया है। यह समझिये कि सरल और रोचक शैली में महिलाओं को धार्मिक एवं विदुषी बनाने वाली यह उपयोगी पुस्तक है। इस में शास्त्रों का सार संक्षेप में दिया गया है जिस से कम समय में अधिक जानकारी प्राप्त हो सके। महिलाओं को अपने गृहस्थ धर्म की सही शिक्षा प्राप्त हो सके और वे

पाश्चात्य शिक्षा की चकाचौंध में बहकें नहीं, यही मेरा लक्ष्य है। इस पुस्तक से उतना ही लाभ बालक-बालिकाएं और पुरुष उठा सकते हैं। अपने परिवार को जो सन्मार्ग पर ले जाना चाहते हैं वे इसे अवश्य पढ़ें और घर में रखें।

-आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

प्रस्तावना

यशोदा धार्मिक रुचि रखने वाली सुशिक्षित महिला है किन्तु वह शास्त्र-ज्ञान की दृष्टि से कम पढ़ी-लिखी है। इस कारण वह किसी बात का तर्कपूर्ण निर्णय नहीं कर पाती। वह अपनी सभी जिज्ञासाओं का समाधान करना चाहती है किन्तु अभी तक उसे कोई समाधान करने वाला विद्वान् या विदुषी नहीं मिली। जो मिलता है वह उस की अपनी मान्यता को अपनाने पर ही बल देता है। उस के मन में उठने वाली शंकाओं का समाधान नहीं करता।

उसे पता चलता है कि कुछ दिन पहले उस के पड़ौस में एक परिवार आकर रहने लगा है। वह धार्मिक परिवार है। घर में प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होता है। पति विद्वान् है जो सरकारी सेवा में है। पत्नी, जिस का नाम सुखदा है, एक विदुषी महिला है। गुरुकुल में रहकर उस ने वेद-शास्त्रों के साथ-साथ आधुनिक विचारधाराओं एवं भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया है। वह एक आदर्श गृहिणी है। उस की धार्मिकता, बुद्धिमत्ता और व्यवहार के कारण घर का वातावरण स्नेह, सुख, शान्ति और समृद्धि से भरपूर है। घर-परिवार के कामों से निवृत्त होकर वह अब भी स्वाध्याय में संलग्न रहती है।

एक दिन, घर के काम निपटाकर यशोदा सुखदा के पास पहुंचती है। घर का द्वार खटखटाने पर स्वच्छ-सादी वेशभूषा पहने सुखदा आकर द्वार खोलती है। परस्पर अभिवादन करने के बाद सुखदा यशोदा को बैठक में लाकर बैठाती है और जलपान के साथ उस से परिचय प्राप्त करती है तथा आने का कारण पूछती है। यशोदा अपनी धार्मिक जिज्ञासाओं की चर्चा करके उन का समाधान करने का निवेदन करती है। उत्तर में सुखदा उस की जिज्ञासाओं के समाधान का आश्वासन देती है और परामर्श देती है कि कल से प्रतिदिन इसी समय आ जाना तथा अपने परिजनों से अनुमति अवश्य ले लेना। यह कहकर यशोदा को विदा कर देती है।

विषय सूची

पहला दिन

धर्म का वास्तविक स्वरूप

अगले दिन यशोदा सुखदा के बताये समयानुसार आती है। परस्पर अभिवादन के बाद दोनों बहनें बैठक में बैठती हैं। जलपान के बाद सुखदा यशोदा से कहती है–हाँ बहन, आप क्या जानना चाहती हैं ? अब पूछिये।

यशोदा–आदरणीया बहन! सब से पहले तो मैं आपके प्रति आभार प्रकट करती हूँ कि आपने मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया और मेरे लिए इतना सारा समय निकाला। यह आपकी उदारता है। नहीं तो आज के जमाने में बिना स्वार्थ के कोई किसी का सहयोग ही नहीं करना चाहता। न दूसरों के लिए किसी के पास समय है।

सुखदा–बहन! एक मानव द्वारा दूसरे मानव का श्रेष्ठ सहयोग करना ही मानवता है। जब मानव, मानव का सहयोग नहीं करना चाहता तो यह समझो कि उस में स्वार्थ का दुर्भाव बढ़ रहा है। स्वार्थ पशुता का चिह्न है, मानवता का नहीं। इस से मानवता का पतन होता जायेगा। ज्यों-ज्यों मानवता का पतन होता जायेगा त्यों-त्यों परिवार-समाज में सुख-शान्ति का लोप होता जायेगा। यही कारण है कि आज का मानव धन-सम्पत्ति, साधन-सुविधा से सम्पन्न है किन्तु उसे सुख-शान्ति नहीं है। इस का कारण यह है कि आज का मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा करके भौतिकवाद को ही सब कुछ मानकर उस में फंसा रहता है। भौतिकवाद से सांसारिक सुख तो भले ही मिल जाये किन्तु आत्मिक और मानसिक सुख नहीं मिल सकता।

अपने इतिहास को पढ़कर देखो। मिथिला के राजा जनक और केकय देश के राजा अश्वपति राजा होते हुए भी साधना-स्वाध्याय में संलग्न रहते थे और एक वीतराग के समान राज्य सञ्चालन करते थे। संसार के समस्त ठाठ-बाट से परिपूर्ण राज्य के इकलौते स्वामी राजकुमार सिद्धार्थ (बुद्ध) और महावीर जैन राज्य को ठुकराकर सच्चे सुख के लिए वैरागी बने थे। सम्राट् अशोक महान् भारत के एकछत्र सम्राट् होते हुए भी भिक्षु की तरह जीवन बिताते थे। सच्चे सुख के लिए इकलौते पुत्र स्वामी दयानन्द

सारी धन-सम्पत्ति को छोड़कर संन्यासी बन गये थे। यदि भौतिक-वाद में सुख-शान्ति होती तो ये महापुरुष उस को कभी न छोड़ते। आध्यात्मिक गुणों के अपनाने से ही परिवार-समाज में सुख-शान्ति का प्रसार होगा तथा मानवता का विकास होगा। इसलिए स्वयं को 'मानव' कहने वाले प्रत्येक मनुष्य को भौतिकवाद के साथ मानवीय गुणों को अधिक महत्त्व देना चाहिए। आध्यात्मिक गुणों का नाम ही मानवता और धर्म है।

धर्म एक या अनेक ?

यशोदा—धर्म एक है या अनेक ? उस धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? आज हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, राधास्वामी, ब्रह्माकुमारी, निरंकारी, कबीरपन्थी, शैव, वैष्णव आदि अनेक मत चले हुए हैं, जो अपने-अपने मत को 'धर्म' कहते हैं। ये सभी अपने मत को अच्छा और दूसरे को बुरा कहते हैं। उस का निर्णय कैसे किया जाये कि कौन अच्छा है?

सुखदा—धर्म तो एक ही होता है, दो या अनेक नहीं। उक्त सभी लोग जो अपनी विचारधारा को धर्म कहते हैं, वह धर्म नहीं है। वे सब सम्प्रदाय, पन्थ या मत-मतान्तर हैं। ये अपने सम्प्रदाय को महान् दिखाने के लिए 'धर्म' नाम देते हैं। पक्षपात और स्वार्थ के कारण ये अपने सम्प्रदाय को अच्छा और दूसरे को बुरा कहते हैं। यदि कोई अच्छी बात एक में है और वही दूसरों में भी है तो वह 'धर्म' एक ही है। उस को दो नाम नहीं दिये जा सकते। यदि कोई बुरी बातें हैं तो उन को धर्म नहीं अधर्म कहा जाता है। इसलिए न तो अनेक धर्म हो सकते हैं और न उस धर्म के अनेक नाम हो सकते हैं।

धर्म का लक्षण करते हुए शास्त्रों में कहा गया है—

"धारणात् धर्म इत्याहुः।" —महाभारत १२।१२०।११॥

अर्थात्—मनुष्य द्वारा धारण करने योग्य श्रेष्ठ और कल्याणकारी जो विचार और आचरण हैं, उन का नाम 'धर्म' है। वे विचार और आचरण सारे संसार में, सब कालों में एक ही रहेंगे, इसलिए धर्म भी एक ही रहेगा। जैसे विश्व का कोई भी विचारवान् व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि 'झूठ बोलना' धर्म है, 'चोरी करना' धर्म है। इस से सिद्ध हुआ कि सत्य आचरण और चोरी न करना धर्म है। यह

सारे संसार में एक जैसा विचार है। इस आधार पर धर्म भी एक है। फिर भी जो लोग भिन्न-भिन्न नाम रखकर उसे 'धर्म' कह रहे हैं, वे लोगों को गुमराह कर रहे हैं और धर्म के अर्थ को विकृत कर रहे हैं, धर्म में भ्रान्ति पैदा कर रहे हैं। 'धर्म' नाम की आड़ में अपना गुरुडम या पन्थ चला रहे हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

यशोदा—हमें उन श्रेष्ठ और कल्याणकारी विचारों और आचरणों को कोई एक नाम तो देना ही होगा। फिर यह विवाद पैदा होगा और सब कहेंगे कि हमारा नाम रखो, हमारा नाम रखो। यह बताइये कि उस एक धर्म को क्या नाम दिया जाये ?

सुखदा—हमें कोई नाम देने की आवश्यकता नहीं है। यह नाम तो भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने हजारों-हजार वर्ष पहले ही दे दिया है। उस सार्वकालिक, सार्वभौमिक एक धर्म का नाम है—**'वैदिक धर्म'**। यह वह धर्म है जो वेद-शास्त्रों में वर्णित है। इसी को हम 'मानवीय धर्म' भी कह सकते हैं।

वेद विश्व के प्राचीनतम धर्मशास्त्र हैं, इस सत्य को संसार के सभी लोग स्वीकार करते हैं। आर्य (हिन्दू) तो वेदों को परमात्मा द्वारा प्रदत्त वाणी मानते हैं। यह ज्ञान मानव-सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने चार ऋषियों के हृदय में दिया। महर्षि अग्नि के हृदय में ऋग्वेद का, महर्षि वायु के हृदय में यजुर्वेद का, महर्षि आदित्य के हृदय में सामवेद का और महर्षि अंगिरा के हृदय में 'अथर्ववेद' का ज्ञान दिया। इन्हीं वेदों से मनुष्य को धर्म का ज्ञान हुआ। वेद संसार के प्राचीनतम शास्त्र होने से 'वैदिक धर्म' भी सब से प्राचीन सिद्ध होता है। अन्य सभी सम्प्रदाय वैदिक धर्म की तुलना में नवीन भी हैं और उसी से कुछ-कुछ सिद्धान्त लेकर बने हैं। उन में जो सत्य धर्म की बातें हैं वे वैदिक धर्म की हैं और जो अन्य बाते हैं वे धर्म की कोटि में नहीं आतीं। जैसे-बौद्ध और जैन सम्प्रदाय को चले २५०० वर्ष से कुछ ऊपर हुए हैं; ईसाई धर्म को २००० वर्ष, इस्लाम को १४०० वर्ष, सिखपन्थ को ४०० वर्ष, कबीर पन्थ को ४५० वर्ष। शेष सब बहुत नवीन हैं। बौद्ध, जैन, ईसाई सम्प्रदाय में मूल सिद्धान्त 'अहिंसा' है, जो वैदिक धर्म की ही एक मान्यता है। इस्लाम, सिख, कबीर, पन्थों में 'ईश्वर को निराकार मानना तथा

उस की मूर्तिपूजा न करना' मुख्य सिद्धान्त है। यही सिद्धान्त यथावत् वैदिक धर्म में है। इस प्रकार 'धर्म' कहलाने वाली सभी श्रेष्ठ बातें वैदिक धर्म के अन्तर्गत पहले से ही हैं। इसलिए 'वैदिक धर्म' ही एकमात्र 'सनातन धर्म' कहलाने योग्य है।

यशोदा—यदि दूसरे लोग अलग-अलग नाम रखकर अपना 'धर्म' कहें और उसे चलायें तो इस से क्या हानि है ? इस से तो धर्म का अनेक रूपों में प्रचार ही होगा ?

सुखदा—इस से एक हानि तो पहले बता दी है। वह यह है कि धर्म के अर्थ में भ्रान्ति फैलती है। कोई किसी भी अच्छी-बुरी बात को धर्म कहकर अपना गुरुडम चलाने लगता है और धर्म के नाम पर लोगों को ठगता है। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म बदनाम होता है। दूसरी बहुत बड़ी हानि यह है कि मत-मतान्तरों के बढ़ने से मानवों में भिन्न-भिन्न विचार उपजते हैं। उस से परिवार, समाज और विश्व की एकता नष्ट होती है और फिर धर्म के सही रूप को न समझकर लोग आपस में धर्म के नाम पर ही लड़ते हैं। इस से जहां धर्म बदनाम होता है वहां मानवता भी नष्ट होती है। इसलिए विश्व की सुख-शान्ति का आधार एक मत और एक धर्म ही है। वह वैदिक धर्म ही हो सकता है।

आज कम्युनिज्म में जो धर्म की उपेक्षा की जाती है या भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता की बात कही जाती है, यह धर्म के अर्थ की भ्रान्ति और अनर्थ के कारण ही है। ऐसा कहने वालों ने सम्प्रदायों को धर्म मान लिया है। सच्चाई यह है कि जो मनुष्य धर्मनिरपेक्ष हो जायेगा वह अधर्म-सापेक्ष होता जायेगा। इस विचार के प्रचार से अधर्म ही बढ़ेगा और अधर्म से समाज में अनाचार, भ्रष्टाचार, अपराध और अन्याय बढ़ेंगे। धर्म मानवता का स्वाभाविक गुण है और अधर्म मानवता का शत्रु है। धर्म से मनुष्य में नैतिकता का विकास होता है और धर्महीनता से अनैतिकता का। धर्म-निरपेक्षता का विचार देकर हम आज के मनुष्य को पशुता की ओर ले जा रहे हैं। यही कारण है कि आज के परिवार-समाज में पाशवी प्रवृत्तियां बढ़ती जा रही हैं।

धर्म की आवश्यकता

यशोदा—बहन! आपकी बात बिल्कुल सत्य मालूम पड़ती है।

आप जो कह रही हैं हालात वैसे ही हैं। किन्तु धर्म को न मानने वाले अर्थात् नास्तिक कहते हैं कि इन सब बुराइयों को कानून से रोका जा सकता है, धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुखदा—उन की यह युक्ति मनोविज्ञान और व्यवहार दोनों ही कसौटियों पर खरी नहीं उतरती। कम्युनिस्ट देशों में धर्म को नहीं मानते थे, वहां लोगों ने धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप की धारणा को त्याग दिया और वे मनमाना आचरण करने लगे। ईमानदारी और निष्ठा से काम करना बन्द कर दिया। परिणाम यह निकला कि मुख्य देश रूस-सहित आधी दुनिया के कम्युनिस्ट देशों का शासकीय पतन और विघटन हो गया। कानून वहां बड़े सख्त थे। भारत में भी ढेर सारे कानून हैं। किन्तु फिर भी यहां दहेज-प्रथा, बालविवाह, धूम्रपान, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, चोरी, जारी, डकैती, लूट आदि पर अंकुश नहीं लग पा रहा है। अकेला कानून तब तक कुछ नहीं कर पाता जब तक आत्मनियन्त्रण और नैतिक भाव न हो। धर्म भी मनुष्य में नैतिकता की चेतना उत्पन्न करता है। वही आत्मा को नियन्त्रित करता है, मन को दमित करता है। धर्म-अधर्म के भेद की धारणा के समाप्त होने पर पुण्य-पाप की भावना समाप्त हो जाती है। जब पुण्य-पाप के संस्कार ही नहीं रहेंगे तो मनुष्य कुछ भी करे, उसे कोई अन्तर नहीं लगेगा। मानव-राक्षस में कोई भेद नहीं रह जायेगा। अतः कानून भी धर्म और नैतिकता के सहारे सफल होता है।

धर्म का स्वरूप

यशोदा—अच्छा बहन, यह बताइये कि हमारे शास्त्रों में धर्म का क्या स्वरूप बतलाया है?

सुखदा—पहले मैंने आपके सामने रामायण और महाभारत का वचन उद्धृत करके बताया है कि 'धारण किये जाने योग्य श्रेष्ठ विचार और आचरण' धर्म कहलाते हैं। धर्म की सभी परिभाषाएं लगभग इसी कथन की पुष्टि करती हैं। वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—

"यतः-अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।" १।१।२॥

अर्थात्—जिस विचार और आचरण से अभ्युदय=मनुष्य की आत्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नति और सुख-शान्ति की प्राप्ति

एवं वृद्धि हो तथा निःश्रेयस-सिद्धि=मोक्षसुख की सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं।

ज्ञान की वृद्धि, विद्या की प्राप्ति, दया, करुणा, परोपकार, सहयोग, उपासनासिद्धि, मोक्ष प्राप्ति आदि गुणों का विकास होना आत्मिक उन्नति है। इन्द्रियजय, संयम, श्रेष्ठ संस्कार और संकल्पों का मन में होना मानसिक उन्नति है। शुद्ध-सात्त्विक, रोगरहित आहार प्राप्त करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक शरीर को बलवान्, नीरोग और स्फूर्तियुक्त बनाना, उसे दीर्घायु करना, शारीरिक उन्नति है। स्वस्थ शरीर ही धर्मसाधना का साधन हो सकता है। कहा भी है–

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" –कुमारसम्भवम्॥

अर्थात्–धर्मसिद्धि का सब से पहला साधन स्वस्थ शरीर है। इसलिए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पहला प्रयत्न होना चाहिए। यही वास्तविक धर्म है जो मोक्षपथ की ओर ले जानेवाला है।

स्मृति-ग्रन्थों में व्यावहारिक कर्त्तव्यों, मर्यादाओं, नियमों के पालन को व्यावहारिक धर्म कहा है। परिवार के प्रत्येक सदस्य द्वारा परिवार की मर्यादाओं का पालन करना धर्म है। जैसे–माता-पिता द्वारा सन्तान उत्पन्न करके उन का पालन-पोषण करना, उस को सुसंस्कारित करना, ज्ञानवान् और योग्य बनाना। इसी प्रकार सन्तान द्वारा माता-पिता की आज्ञा-निर्देश का पालन करना, उन की सेवा-संभाल करना, उन को आदर-सम्मान देना, उन को प्रसन्न रखना, ये सन्तान के धर्म हैं। पति-पत्नी द्वारा स्नेह सहयोगपूर्वक रहना, मर्यादा में रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करना, अपने बुजुर्गों की सेवा-संभाल करना, अतिथि सेवा करना आदि पारिवारिक धर्म हैं। अच्छे नागरिक बनकर सामाजिक मर्यादाओं का पालन करना आदि सामाजिक धर्म है। राष्ट्र-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करना राष्ट्रीय धर्म है। राजा द्वारा अपने राजकीय कर्त्तव्यों का पालन सत्य निष्ठापूर्वक करना राजधर्म है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, सेवक-स्वामी, वर्णों, आश्रमों आदि के कर्त्तव्यों का पालन करना भी व्यावहारिक धर्मों के अन्तर्गत आ जाता है। अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन करने से ही समाज या देश में व्यवस्था रहती है अन्यथा अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति बन जाती है।

धर्म के दश लक्षण

यशोदा–मैंने उपदेशों में धर्म के दश लक्षणों की चर्चा सुनी है। क्या आप उन लक्षणों को सरल भाषा में समझा सकती हैं? कृपया यह भी समझाने का कष्ट करें कि जब सभी आध्यात्मिक एवं श्रेष्ठ व्यावहारिक कर्त्तव्य धर्म हैं तो फिर इन दस बातों को ही 'धर्म का लक्षण' क्यों कहा जाता है ?

सुखदा–धर्म का विषय गम्भीर चिन्तन का विषय है। मैं उसे सरल शैली में आपको समझाती हूँ। उपर्युक्त सभी बातें धर्म हैं। ऐसे गुण बहुत हैं जिन को धर्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किन्तु महर्षि मनु ने मनुस्मृति में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी, इन चारों आश्रमधारियों द्वारा समान रूप से अवश्य पालनीय जो दैनिक व्यावहारिक कर्त्तव्य हैं, उन दस कर्त्तव्यों को मुख्य मानकर उन्हें 'धर्म का लक्षण' घोषित किया है। लक्षण का अर्थ है–'चिह्न या हेतु'; अर्थात् वे धर्मपालन के संकेत हैं और धर्म के हेतु=कारण हैं। उन दसों का पालन करने वाले व्यक्ति के विषय में वे संकेत देते हैं कि वह धार्मिक है। जो उन का पालन नहीं करता, शास्त्र उस को धार्मिक नहीं मानते। वे दस लक्षण हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

–मनुस्मृति ६।९२॥

अर्थात्–धृतिः=धैर्य रखना, क्षमा=सहनशीलता, किसी का वध न करना या किसी को न सताना, दमः=मन पर नियन्त्रण, अस्तेयम्=चोरी न करना, शौचम्=मन और तन की पवित्रता, धीः=बुद्धि वृद्धि के उपाय करना, विद्या=सत्यविद्याओं की प्राप्ति करना, सत्यम्=सत्याचरण, अक्रोध=क्रोध न करना, ये दश धर्म के लक्षण हैं।

अब मैं इन को विस्तार से समझाती हूँ–

१. धृति–संसार में मनुष्य पर दुःख और कष्ट आते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य विचलित हो जाता है। किन्तु धार्मिक अर्थात् ईश्वर पर विश्वास करने वाला मनुष्य विचलित नहीं होता। वह धैर्य बनाये रखता है और उस के सहारे विपत्ति को पार कर जाता है। मनुष्य को किसी भी विपत्ति में धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

धैर्य न रखने वाला व्यक्ति उतावले स्वभाव का होता है। अपने उतावलेपन के कारण ऐसा व्यक्ति अनेक मुसीबतों को गले डाल लेता है। उन अनचाही मुसीबतों से बचने का उपाय है ईश्वर के कर्मफल प्रदान पर विश्वास करते हुए सदा धैर्य रखना।

२. क्षमा—निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभ में सहन-शीलता का त्याग न करना। असहनशीलता अनेक अपराधों, द्वेषभावों, शारीरिक रोगों की जननी है। अतः सहनशीलता बनाये रखनी चाहिए। किसी भी प्रकार की हिंसा करना, किसी का वध करना या किसी को सताना भी क्षमा-भावना के विरुद्ध है और अधर्म है।

३. दम—मन पर नियन्त्रण करना दम कहलाता है। मन में उठने वाले ईर्ष्या, द्वेष, काम, लोभ-मोह आदि बुरे संकल्पों को रोकना और अधर्म की ओर उस की प्रवृत्ति न होने देना। मन इन्द्रियों का स्वामी है और बहुत चंचल है। उस के अनियन्त्रित हो जाने पर सारी इन्द्रियां भी अनियन्त्रित हो जाती हैं। मन का स्वभाव है जल की तरह पतन की ओर जाना। अनियन्त्रित मन वाला मनुष्य निरन्तर पतन की ओर जाता रहता है अतः मन का दमन करना धर्मसिद्धि के लिए आवश्यक है।

४. अस्तेय—बिना आज्ञा, छल-कपट, विश्वासघात अथवा धर्मविरुद्ध रूप से किसी की कोई वस्तु या धन आदि लेना 'स्तेय' कहलाता है। इस के विपरीत धर्मानुसार पदार्थों का ग्रहण अस्तेय (अचौर्य) कहलाता है। अस्तेय धर्म का लक्षण है।

मूल्य से अधिक धन लेना, रिश्वत लेना, भ्रष्टाचरण, नियम विरुद्ध धन ग्रहण करना, मिथ्या तरीके से धन ग्रहण करना, अनैतिक रूप से धन ग्रहण करना आदि सभी काम चौर्य-रूप अधर्म हैं।

५. शौच—शरीर और मन की पवित्रता रखना 'शौच' कहलाता है। शरीर की शुद्धि जल से होती है और मन की शुद्धि सत्य विचार से होती है। छल-कपट रहित होकर व्यवहार करना भी 'शौच' नामक धर्म है। मन और चित्त में विचारित या संचित अथवा शरीर से किये गये पापों की शुद्धि जल से नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग पाप मिटाने की इच्छा से तीर्थों या नदियों में स्नान करने जाते हैं और समझते हैं कि हमारे पाप धुल गये हैं, यह महाअज्ञान और

धोखा है।

६. इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियां दस हैं। आंख, नाक, कान, रसना (जिह्वा), त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ, पैर, उपस्थ (जननेन्द्रिय), गुदा, वाक् ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। इन इन्द्रियों को अपने विषयों में लिप्त न होने देना, अधर्माचरण से रोककर धर्म की ओर प्रवृत्त रखना अर्थात् संयम का पालन करना 'इन्द्रियनिग्रह' नामक धर्म का लक्षण है।

७. धी—इस का अर्थ बुद्धि है। दुर्व्यसन, कुसंग, अज्ञान, अन्धविश्वास, अविद्या आदि बुद्धिनाशक विषयों से बुद्धि को हटाकर ज्ञान, सत्संग, चिन्तन आदि द्वारा बढ़ाना 'धी' कहलाता है।

८. विद्या—पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त अनेक सत्य विद्याएं संसार में हैं। प्रत्येक मनुष्य को अधिक से अधिक विद्याओं की प्राप्ति कर विद्यावान् बनना चाहिए। जो मनुष्य कोई विद्या नहीं प्राप्त करते, उन में और पशु में कोई अन्तर नहीं होता। महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानम्, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

—नीतिशतक १३॥

अर्थात्—जिन्होंने न कोई विद्या प्राप्त की है, जो न तपस्वी हैं, न दानी हैं, न ज्ञानी हैं, न श्रेष्ठ स्वभाव हैं, न गुणी हैं, न धार्मिक हैं; ऐसे लोग धरती पर भाररूप हैं। यह समझो कि वे मनुष्य के वेश में पशु ही घूमते हैं।

९. सत्य—जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही मानना। आत्मा के विरुद्ध न बोलना, न आचरण करना। मन, वचन, कर्म की एकरूपता रखना सत्य है। बहुत से लोग सत्य को कटुता का प्रतीक मानते हैं। यह विचार सही नहीं है। सत्य के नाम पर शिष्टता-सभ्यता का परित्याग नहीं करना चाहिए। सत्य तो बोलना चाहिए किन्तु उस को प्रिय रूप से बोलना चाहिए, ऐसा महर्षि मनु का आदेश है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥

—मनुस्मृति ४।१३८॥

अर्थात्–'सत्य बोलो तो प्रिय बोलो। यदि वह सत्य अप्रिय= कटु है तो उसे न बोलो, यही अच्छा है। प्रिय कथन भी यदि असत्य है तो उसे भी न बोलो, यही सनातन धर्म है।' यह पारस्परिक व्यवहार का सामान्य धर्म है। यदि कहीं दण्ड, सुधार, युद्ध, अनीति, अन्याय, अत्याचार का प्रसंग हो तो वहां इस कथन को लागू नहीं करना चाहिए।

१०. अक्रोध–क्रोध बुद्धि का नाश करता है, स्नेह को नष्ट करता है। हृदय, मस्तिष्क, रक्त सम्बन्धी अनेक रोगों को जन्म देता है। अनेक संकटों को आमन्त्रित करता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य कभी भी विवेकपूर्ण निर्णय या कार्य नहीं कर सकता। क्रोधी व्यक्ति से अपने भी घृणा करने लगते हैं। इसलिए क्रोध को छोड़कर शान्ति आदि गुणों को धारण करना चाहिए।

इन दस लक्षणों के पालन करने से मनुष्य पहचाना जाता है कि वह 'धार्मिक' है। मनुष्य के धार्मिक होने का मतलब परिवार का अच्छा सदस्य होना, समाज का अच्छा व्यक्ति होना, देश का अच्छा नागरिक होना। सभी लोग विद्वान् भले ही न हो सकते हों किन्तु सभी धार्मिक अवश्य हो सकते हैं। जहां धार्मिक जन होंगे वहां सुख-शान्ति होगी, जहां अधार्मिक जन होंगे वहां दुःख और अशान्ति रहेगी। इसलिए हम सब का कर्त्तव्य है कि हम अपनी सन्तानों और अन्य जनों को धार्मिक बनाने पर बल दें। माता-पिता के धार्मिक होने से सन्तानों को सुख होगा और सन्तानों के धार्मिक बनने से माता-पिता को सुख होगा।

क्या अहिंसा धर्म नहीं ?

यशोदा–आदरणीय बहन ! आपने बहुत ही सरल शैली में और साधारण भाषा में धर्म के लक्षणों को समझाया है। मैंने आज तक इतने स्पष्ट रूप में धर्म को समझाते नहीं सुना। इस विषय में मेरी एक शंका अभी भी बनी हुई है। वह यह है कि इनमें अहिंसा जैसे धर्म का उल्लेख नहीं आया है। क्या बेजान, निर्दोष, निरीह पशुओं का वध करना, उन को मारकर उन का मांस खाना यह अधर्म या पाप नहीं है क्या ?

सुखदा–हिंसा बहुत बड़ा पाप है, ऐसा हमारे धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर आता है। अहिंसा को धर्म ही नहीं अपितु उन से

बढ़कर परमधर्म माना है—

'अहिंसा परमो धर्मः ।' —महाभारत॥

अर्थात्—'हिंसा न करते हुए जीवन जीना महान् धर्म है।' इस विषय में विस्तार से चर्चा भोजन विषय में आगे करूंगी। यदि हम प्राकृतिक दृष्टि से भी देखें तो जो जीवन हम किसी को दे नहीं सकते, उस जीवन को लेना महान् अधर्म है। जो लोग अपना पेट भरने के लिए दूसरे प्राणियों का वध करते हैं वे घोर पापी और स्वार्थी हैं। आप सोचिये कि कोई उन लोगों के साथ वही बर्ताव करे तो उन पर क्या बीतेगी ! यदि कोई उन को मारे तो स्वार्थ के अन्धकार में डूबी उन की अक्ल तब ठिकाने आ जायेगी।

धर्म निर्णय का सरल उपाय

यशोदा—सद्गुण अनेक हैं, उन को आपने धर्म कहा है। दुर्गुण भी अनेक हैं, उन को आपने अधर्म कहा है। सब की गणना करना भी एक कठिन और लम्बा कार्य है। क्या कोई ऐसा उपाय भी है जिस के द्वारा हम धर्म-अधर्म का ज्ञान कर सकें ?

सुखदा—हाँ, अवश्य है। यह उपाय है—'आत्मा की कसौटी पर परखना'। यह दो प्रकार से होता है। एक तो अपनी आत्मा को जिस कार्य से दुःख पहुंचता है, वह व्यवहार दूसरों के साथ भी न करना। दूसरा, आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध कार्य न करना। आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदा धर्म की ओर होती है। अधर्म करने वाले व्यक्ति को आत्मा सदा चेताता है। जो आत्मा की आवाज को सुनता और मानता है वह अधर्म से बच जाता है। जो उस को अनसुना कर देता है वह अधर्म का आचरण करने लगता है। आत्मा में उत्पन्न होने वाले धर्म-अधर्म के लक्षणों की पहचान महर्षि दयानन्द इस प्रकार बतलाते हैं—

"मनुष्य का आत्मा सत्य-असत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।" —सत्यार्थप्रकाश, भूमिका ।।

"और जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा, ज्ञान आदि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा

के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्द, उत्साह उठता है।''
—सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास ।।

इस प्रकार एक तो धर्म-अधर्म के पहचान की यह कसौटी है। दूसरी कसौटी धर्म के सार के रूप में महर्षि व्यास महाभारत में बतलाते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

—महाभारत ।।

अर्थात्—'मुनष्यो ! धर्म का निचोड़ सुनो और सुनकर उस पर आचरण करो। वह यह है कि अपनी आत्मा को दुःखदायी लगने वाले व्यवहार या काम दूसरों के साथ मत करो।' जैसे हमें यह अच्छा नहीं लगता कि कोई हमें गाली दे, मारे, लूटे तो हमें दूसरों के साथ भी वह व्यवहार नहीं करना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य ईमानदारी से आत्मा की कसौटी को अपना ले तो संसार की अधिकांश परेशानियां दूर होकर सुख, शान्ति स्थापित हो जाये। चारों ओर धर्म का साम्राज्य हो जाये।

धर्म के स्त्रोतरूप शास्त्र

यशोदा—हिन्दुओं में धर्मग्रन्थों के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग पुराणों को अधिक महत्त्व देते हैं, कुछ वेदों को। वैदिकधर्म की दृष्टि से किन-किन शास्त्रों को धर्मज्ञान का स्त्रोत मानना चाहिए ?

सुखदा—वैदिक धर्म में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और निर्विवादित स्थान चार वेदों का है। चारों वेदों को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान माना जाता है और वे ही धर्म का मूलस्त्रोत हैं। उन को ऋषियों ने नहीं बनाया अपितु ईश्वर ने महर्षि अग्नि के हृदय में 'ऋग्वेद' का, महर्षि वायु के हृदय में 'यजुर्वेद' का, महर्षि आदित्य के हृदय में 'सामवेद' का और महर्षि अंगिरा के हृदय में 'अथर्ववेद' का प्रकाश किया। ये ऋषि सृष्टि के आदि में हुए थे। क्योंकि आदिसृष्टि में ये सब से स्वच्छ, पवित्र हृदय वाले और निष्पाप थे। अतः इन को ही ज्ञान प्राप्त हुआ। इन से ब्रह्मा आदि महर्षियों ने पढ़ा। उन से विद्याओं की परम्परा आगे बढ़ी। वेदों के अतिरिक्त ईश, केन, कठ, प्रश्न,

मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्य ये दस उपनिषदें भी धर्म का प्रामाणिक स्रोत हैं।

वेदों के बाद छह दर्शनशास्त्र हैं–सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा दर्शन, ये धर्म के स्रोत हैं। स्मृति-ग्रन्थों में केवल 'मनुस्मृति' वैदिक आर्षशास्त्र है। किन्तु उस में बाद में मिलावटें बहुत हो गयी हैं। उन मिलावटों को छोड़कर ही उसे प्रमाण मानना चाहिए।

रामायण और महाभारत ऐतिहासिक महाकाव्य हैं जिनमें धार्मिक उपदेश और आचार भी हैं। गीता महाभारत का ही एक अंश है। इनमें भी मिलावटों को छोड़कर प्रामाणिक धर्म का वर्णन है। किन्तु ये धर्मशास्त्र नहीं हैं।

इन सब का सरल और स्पष्ट शैली में एकत्र सार महर्षि दयानन्द रचित 'सत्यार्थप्रकाश' में है। उस को पढ़कर सभी वैदिक सिद्धान्तों को सन्देहरहित रूप में जाना जा सकता है।

यशोदा–बहन, आपने धर्म के स्वरूप को अच्छी तरह समझा दिया है। वह मुझे समझ में भी आ गया है। आपका अति धन्यवाद। मैं कल फिर आऊंगी और आपसे 'गृहस्थ धर्म' के विषय में चर्चा करूंगी। अच्छा नमस्ते।

सुखदा–नमस्ते, बहन! ठीक है, आप कल आइये।

दूसरा दिन

(१) गृहस्थ धर्म और सुखी गृहस्थ

यशोदा–सुखदा बहन नमस्ते!

सुखदा–नमस्ते बहन! आइये, बैठिये।

गृहस्थ का अर्थ और महत्त्व

यशोदा–बहन, कल आपने धर्म का वास्तविक स्वरूप बतलाया और साधारण धर्मों की जानकारी भी दी। आज मैं गृहस्थ के धर्म और सुखी गृहस्थ के उपाय जानना चाहती हूँ। सब से पहले मैं यह जानना चाहती हूँ कि वैदिक मान्यता के अनुसार गृहस्थ का क्या अर्थ है ?

सुखदा–वैदिक समाज व्यवस्था के अन्तर्गत चार आश्रम माने गये हैं–१. ब्रह्मचर्य, २. गृहस्थ, ३. वानप्रस्थ, ४. संन्यास। इनमें गृहस्थ दूसरा आश्रम है। शास्त्रों में गृहस्थ व्यक्ति के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने के बाद, युवक-युवती होकर, विवाह करके, घर में रहते हुए सन्तानोत्पत्ति आदि धर्मों का पालन करना और सन्तान का निर्माण करना 'गृहस्थ आश्रम' है। वैदिक व्यवस्था में इस आश्रम को ज्येष्ठ आश्रम कहकर बड़ा सम्मान और महत्त्व दिया गया है।

यशोदा–मैंने तो साधु-सन्तों, धर्माचार्यों-महन्तों आदि के मुख से गृहस्थ की निन्दा ही सुनी है। वे गृहस्थों को और विशेषरूप से नारी जाति को हेय दृष्टि से देखते हैं तथा गृहस्थ आश्रम को संसार में फंसाने वाला मानते हैं।

सुखदा–ऐसा करना वेदशास्त्रों और वैदिक व्यवस्था के विरुद्ध है। वैदिक मान्यता के अनुसार शास्त्रों के अनुसार धारण किये हुए चारों आश्रम व्यक्ति के धर्म और मोक्ष की सिद्धि करने वाले हैं। वैदिक व्यवस्था के अनुसार तो गृहस्थ सब आश्रमों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इस के अनेक कारण हैं–

१. गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही मनुष्यजन्म की प्राप्ति होती है। इस के बिना मनुष्य जन्म न होने से कोई कुछ भी नहीं कर सकता। न सांसारिक सुखों को प्राप्त कर सकता है, न मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

''इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे।''

–सत्यार्थप्रकाश ४ समुल्लास ।।

२. गृहस्थ आश्रम से ही मनुष्य सृष्टि का आरम्भ और विकास होता है। यह आश्रम सृष्टि-सञ्चालन का आधार है।

३. अन्य तीन आश्रमों का आधार गृहस्थ ही है। गृहस्थों से जन्म लेकर ही अन्य तीन आश्रमों का अस्तित्व है और गृहस्थ आश्रम से ही उन का पालन-पोषण तथा धारण सम्भव है। इसीलिए वह ज्येष्ठ भी है और श्रेष्ठ भी। महर्षि मनु मनुस्मृति में और महर्षि दयानन्द उन श्लोकों को उद्धृत करके अपने ग्रन्थों में यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं–

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
—मनु० ३।७८॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥
—मनु० ६।८९॥

अर्थात्—प्रतिदिन पदार्थों का दान तथा भोजन आदि देकर गृहस्थ ही तीनों आश्रमों का पालन करता है, इस कारण गृहस्थ सब से बड़ा है। वेद और स्मृति शास्त्रों के विधान-आदेशानुसार गृहस्थ तीनों आश्रमों का आधार है और उन को धारण करने वाला है, इसलिए गृहस्थ को सब से श्रेष्ठ आश्रम कहा गया है।

४. अन्य तीन आश्रमों की तुलना में गृहस्थ का दायित्व अधिक है। ब्रह्मचारी केवल अपने जीवन-निर्माण के लिए श्रम करता है। वानप्रस्थ अपने और समाज के निर्माण के लिए श्रम करता है। संन्यास या तो केवल अपने मोक्ष के लिए अथवा कभी-कभी समाज के लिए भी श्रम करता है। ये जो भी श्रम करते हैं उन का सहारा गृहस्थ से प्राप्त करते हैं। गृहस्थ जहां इन्हें सहारा देता है वहां सन्तान, परिवार, समाज एवं राष्ट्रनिर्माण के लिए श्रम करता है, अतः गृहस्थ का महत्त्व सर्वाधिक है।

इस प्रकार गृहस्थ न तो हीन है, न निन्दनीय है, न संसार में फंसाने वाला है, न दुःख का घर है। जो लोग गृहस्थ में शास्त्रों के आदेश-विधान के विरुद्ध, अधर्म पूर्वक आचरण करते हैं, केवल वे गृहस्थ ही निन्दनीय हैं।

गृहस्थ की अवधि और विवाह

यशोदा—गृहस्थ आश्रम में रहने का समय कितना है?

सुखदा—हमारे शास्त्रों ने मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष मानकर साधारण रूप से उस के चार विभाग किये हैं, वही चार आश्रमों की अवधि है। पच्चीस वर्ष तक पुरुष को और सोलह वर्ष तक कन्या को विद्याओं का अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम में अवश्य रहना चाहिए। फिर विवाह करने के बाद पचास की आयु तक अथवा पुत्र को पुत्र-प्राप्ति होने तक गृहस्थ में रहे। उस

के बाद पचहत्तर वर्ष तक वानप्रस्थ धारण करके फिर संन्यास ले ले। पूर्ण वैराग्य हो जाये तो पहले भी संन्यास लिया जा सकता है।

यशोदा—क्या विवाह उक्त अवस्था में ही करें ?

सुखदा—यह कम से कम आयु है। इस से कम आयु में विवाह वर्जित है। उस के बाद पुरुष अड़तालीस वर्ष तक तथा कन्या उसी के अनुपात तक कभी भी विवाह कर सकती है। इस के साथ यह भी नियम है कि युवक-युवती को कम से कम एक वेद की सांगोपांग शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। आज संविधान के अनुसार विवाह की आयु कन्या की १८ वर्ष और युवक की २१ वर्ष अनिवार्य है। उस से पूर्व विवाह करना कानूनी रूप से अपराध है। इतने समय तक कन्या और युवक को शिक्षाप्राप्ति में लगा रहना चाहिए। साथ ही गुणों, योग्यताओं और शारीरिक बल के संचय में लगा रहना चाहिए।

यशोदा—विवाह का क्या अर्थ है ? यह कैसे होना चाहिए ?

सुखदा—यह संस्कृत भाषा का शब्द है। इस का अर्थ है—वि= विशेष रूप से, विधिपूर्वक, वाह=एक-दूसरे के उत्तरदायित्व को वहन करने की प्रक्रिया। विवाह संस्कार में युवक-युवती साथ रहकर तन, मन, धन से एक-दूसरे की जिम्मेदारी लेते हैं और सन्तानोत्पत्ति के कर्त्तव्य का पालन करते हुए गृहस्थ के कर्मों को करते हैं। इस प्रकार युवक-युवती विवाहित होकर तन, मन, धन आदि सभी दृष्टियों से एक इकाई बन जाते हैं। यही इकाई सुखी गृहस्थ का मूलमन्त्र है। इकाई में जितना अन्तर होगा उतना ही गृहस्थ के सुखी जीवन में अन्तर रह जायेगा।

विवाह सुशिक्षित युवक-युवती का गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल, परस्पर की प्रीति से और समाज में प्रसिद्धि पूर्वक होना चाहिए। ऐसे विवाह में सुख और स्थायित्व होता है। प्राचीन काल में इस प्रकार के विवाह को 'स्वयंवर विवाह' कहा जाता था। इसी को सर्वश्रेष्ठ विवाह कहा गया है। इतिहास प्रसिद्ध दमयन्ती, सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी आदि देवियों का स्वयंवर विवाह ही हुआ था। वेद का भी आदेश है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

—अथर्ववेद ११।५।१८॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर अर्थात् ब्रह्मचर्य से बल का संचय करके और सुशिक्षित होकर युवती कन्या अपने सदृश पति का वरण करती है। अभिप्राय यह है कि विवाह इसी प्रकार योग्यता से करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने विवाह का लक्षण करते हुए लिखा है—"जो नियमपूर्वक, प्रसिद्धि से, अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना, वह 'विवाह' कहाता है।" —स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश॥

यशोदा—आप देखती हैं कि विभिन्न धर्मों, देशों और जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाह होते हैं। क्या वे नहीं होने चाहिएं? और कौन से विवाह नहीं होने चाहिएं ? उन में क्या हानि है ?

सुखदा—विवाह कहीं भी हो उस में यदि उक्त वैदिक मानदण्डों का पालन होता है तो उस से सुख होगा, अन्यथा दुःख का कारण बनेगा।

गुण, कर्म, स्वभाव के प्रतिकूल विवाह और प्रसन्नतारहित विवाह गृहस्थजीवन में क्लेश और तलाक का कारण बनता है। उस से मानसिक दुःख उत्पन्न होकर बढ़ेगा और फिर अनेक रोग उत्पन्न होंगे। ऐसे विवाह मृत्यु के कारण भी बन जाते हैं। बाल विवाह से सन्तान निर्वीय, क्षीण, रोगी और अदीर्घजीवी होगी। अनमेलविवाह, बहुविवाह, असाध्य रोगग्रस्त का विवाह क्लेश, दुःख और रोग का कारण बनता है। प्राचीन काल में गान्धर्व अर्थात् प्रेमविवाह, अपहरण अर्थात् राक्षसविवाह, क्रय-विक्रय पूर्वक अर्थात् असुर विवाह, बलात्कार पूर्वक अर्थात् पैशाच विवाह, ये निन्द्य विवाह माने गये हैं। इसी प्रकार एकान्त-विवाह भी नहीं किया जाना चाहिए। इन विवाहों से सन्तान कुसंस्कारी बनती है। मर्यादाएं तोड़कर किये गये विवाहों से उत्पन्न सन्तान भी परिवार और समाज की मर्यादाओं को तोड़कर अमर्यादित संस्कारों की बनती है। जब माता-पिता अमर्यादित होंगे तो सन्तान से मर्यादा की आशा कैसे की जा सकती है ? समाज में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह का विधान इसलिए है कि उस का साक्षी समाज होता है और उस सम्बन्ध को बनाये रखने में समाज का दबाव बना रहता है। एकान्त के विवाह में समाज का साक्ष्य और दबाव न होने से पति-पत्नी के स्वच्छन्द होने का अवसर बना रहता है।

दृष्टान्त–मर्यादाहीन विवाहों के परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित कराने वाली एक घटना उल्लेखनीय है। एक युवक-युवती में परस्पर प्रेम हो गया। विवाह करने की इच्छा हुई किन्तु दोनों के माता-पिता उस के लिए तैयार नहीं हुए। एक दिन अवसर पाकर वे दोनों घर से निकल भागे। एक शहर में पहुंचकर एक स्थान पर बैठकर वे भावी जीवन के बारे में सोचने लगे। तभी युवक के मन में एक विचार कौंधा। युवक साथ आयी युवती से पूछने लगा–'प्रिये ! यदि हमारी कोई बेटी हो जाये तो क्या तुम चाहोगी कि वह भी हमारी इच्छा के विरुद्ध और किसी के साथ भागकर विवाह कर ले ?'

'बिल्कुल नहीं।' युवती ने उत्तर दिया।

'तो फिर हम भी तो वही काम कर रहे हैं। जब हम यह काम कर रहे हैं, जिसे तुम अपनी बेटी के लिए पसन्द नहीं करती तो हमारी बेटी को जब हमारे इतिहास का पता चलेगा तो वह भी ऐसा करने में नहीं हिचकिचायेगी।' युवक ने चिन्तित मुद्रा में युवती से कहा।

'हाँ, आपकी बात सही है।' युवती भी इस विचार से चिन्तित हो उठी।

दूरदर्शी विचार ने दोनों की जीवनधारा बदल दी। सन्तानों के कुसंस्कारों और कुमार्गगामी हो जाने के विचार के कारण दोनों अधूरे रास्ते से घर लौट आये और निश्चय किया कि भावावेश में आकर कोई मर्यादाहीन आचरण नहीं करेंगे। माता-पिता की आज्ञा मानेंगे। विवाह करना हुआ तो उन्हें तैयार करेंगे और चोरी से नहीं, समाज की साक्षी में विवाह करेंगे।

यह घटना एक प्रकार के विवाह का उदाहरण है। जितने भी मर्यादाहीन और निन्दनीय विवाह हैं उन का परिणाम निन्दा और दुःख ही निकलता है। सन्तानों पर उन के संस्कार एक तो अमर्यादित आचरण से बुरे पड़ते हैं, और दूसरा कारण ऐसे विवाहों में युवक-युवती में राजस और तामस संस्कारों की प्रधानता का होना है। जब इन निन्द्य वृत्तियों के कारण वे विवाह कर रहे हैं तो उन की सन्तानें भी इन्हीं प्रवृत्तियों की उत्पन्न होंगी।

इस्लाम पन्थ और कुछ हिन्दू लोगों में निकट सम्बन्धियों और

अपने गोत्रों में विवाह किया जाता है। यह अत्यन्त दूषित प्रथा है। वैदिक परम्परा के अनुसार कई गोत्र छोड़कर विवाह होना चाहिए। एक गोत्र में या निकट सम्बन्धियों में विवाह करना चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से भी हानिकर है। इस प्रकार के विवाहों में एक गोत्र या परिवार के रोग पीढ़ी से पीढ़ी तक चले आते हैं और कुछ नये रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए दूरस्थ गोत्र में विवाह उत्तम है।

जिन को अपने गृहस्थ जीवन में रोगरहितता, सुख, शान्ति, मर्यादाएं रखनी हों, उन्हें उक्त विवाह नहीं करने चाहिएं।

यशोदा—आपने यह तो नहीं कहा कि अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं करना चाहिए? अपनी जाति से बाहर विवाह करना भी ठीक नहीं। आपका क्या विचार है?

सुखदा—देखिए, सारी मनुष्य जाति एक जाति है। इस के अलावा जो जातियां बना रखी हैं, वे समाज और मानवता के विरुद्ध बातें हैं। वे मनुष्य मात्र में भेदभाव पैदा करती हैं। नृविज्ञान की दृष्टि से भी ये जातियां सिद्ध नहीं होती। जैसे गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, सिंह, पृथक् जातियां हैं ऐसे मनुष्यमात्र एक जाति है। जाति-पांति की कल्पना मिथ्या और स्वार्थी लोगों की देन है। इस को कभी नहीं मानना चाहिए। इस से ऊंच-नीच, छूत-अछूत, सवर्ण-असवर्ण आदि मानवता के विरुद्ध प्रवृत्तियां पनपती हैं। जाति-पांति वाला समाज और राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। विवाह में युवक-युवती को केवल गुण, कर्म, स्वभाव की अनुकूलता देखनी चाहिए।

यशोदा—क्या विधवा विवाह भी होना चाहिए?

सुखदा—प्राचीन काल में विधुर और विधवा के लिए नियोग-प्रथा थी। किन्तु अब उस का स्थान विवाह ने ले लिया है। विधवा विवाह न करना विधवा के साथ भेदभाव और अन्याय है। विधवा का विवाह न होने से जहां वह गृहस्थ सुख से वंचित रहती है वहीं उस के प्रति समाज में घृणा, उपेक्षा, अशुभता, परिवार पर भार जैसी भावनाएं पनपती हैं जिनके कारण उस का जीवन नरक बन जाता है। कोई न चाहे तो भले ही विवाह न करे किन्तु जो चाहे उस को पुनः विवाह का अवसर मिलना चाहिए। साधारण स्त्रियां

योगिनी, वैरागिनी नहीं हो सकतीं। उन्हें गृहस्थ का सुख, सन्तान का सुख अवश्य चाहिए। उस का उपाय पुनर्विवाह ही है। विधवाओं का पुनर्विवाह न होने से परिवार-समाज में भ्रष्टाचार-अनाचार ही फैलता है। वह समाज के लिए घातक है।

दूसरी बात यह है कि स्त्री भी एक 'मानव' है। जब विधुर पुरुष पुनर्विवाह कर सकता है तो स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार क्यों नहीं ? विधवा-विवाह का निषेध करना अन्याय एवं पक्षपात है और मानवता विरोधी है। जो लोग और नवीन शास्त्र इस प्रकार के अन्याय, पक्षपात की बात करते हैं, वे स्वयम् अन्यायी, पक्षपाती और अज्ञानी हैं। उन की बात कभी नहीं माननी चाहिए।

जो लोग यह कहते हैं कि 'विधवा होना बुरे कर्मों का फल है। उस फल को उसी रूप में रहकर भोगना चाहिए और अच्छे कर्म करते हुए एकाकी जीवन बिताना चाहिए।' ऐसा कहने वाले लोग मूर्ख और पोंगापन्थी हैं। जैसे अन्य कोई भी दुःख आ पड़ने पर मनुष्य उस के निवारण का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार पतिवियोग का दुःख आ पड़ने पर उस के निवारण का उपाय भी करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अतः उस को नया कर्म करने का अधिकार है। विधवा को भी अपना दुःख दूर करके नया सुखी जीवन जीने का अधिकार है।

यदि किसी का धन नष्ट हो जाये तो जैसे वह उम्र भर निर्धन नहीं रहता, पुत्र की मृत्यु हो जाये तो कोई पुत्रहीन नहीं रहता, रोगी हो जाये तो कोई जीवनभर रोगी नहीं रहता, जबकि ये भी बुरे कर्मों के फल हैं। इसी प्रकार विधवा का उम्रभर विधवा रहना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है। और जब विधुर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है तो विधवा स्त्री क्यों नहीं कर सकती?

विधवाओं के अविवाहित रहने से पारिवारिक समस्याएं भी उत्पन्न होती हैं। यदि पिता के घर रहती हैं तो चिन्ता का विषय बनी रहती हैं। यदि पति-घर में रहती हैं तो देवर-जेठ उन के साथ दुर्व्यवहार और दुराचार करने को उद्यत रहते हैं। उसे जीवनभर के लिए भार मानते हैं। सभी विधवाओं और परिवारों का सुख इसी में है कि विधवाओं का पुनर्विवाह होना चाहिए।

यशोदा—क्यों बहन, आज हमारे देश में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव दिखाई पड़ रहा है। आज के आधुनिक युवक-युवतियां कहती हैं कि विवाह के चक्कर में ही नहीं पड़ना चाहिए। यूरोप की तरह स्वच्छन्द जीवन जीना चाहिए और ब्रह्मचर्य, संयम आदि को भी वे व्यर्थ की बातें मानते हैं। इस विषय में आपका क्या विचार है ?

सुखदा—यह विचार पशुता का है, मनुष्यता का नहीं। यूरोप के लोग इस प्रकार का उन्मुक्त जीवन जीकर मनुष्यता से पशुपन की ओर जा रहे हैं। यह सभ्यता, संस्कृति या उन्नति नहीं अपितु अपसभ्यता, अपसंस्कृति और पतन है। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि दी है। बुद्धि से विचारकर मनुष्य ने मर्यादाओं, व्यवस्थाओं की स्थापना की। वह पशुपन की नग्नता और अमर्यादाओं से ऊपर उठा और सामाजिक बना। उस ने कपड़े पहनना, व्यवस्था बनाना, सदाचरण, सद्व्यवहार सीखा। यदि वह इन श्रेष्ठ बातों को छोड़कर नग्नता और अव्यवस्था की ओर जाता है तो इसे मनुष्यता नहीं माना जा सकता।

विवाह-व्यवस्था मानवसमाज की उत्तम व्यवस्था है। इस के कारण मनुष्य सुखी, व्यवस्थित, मर्यादित और समान अधिकार प्राप्त है। उस को भंग करके समाज में न तो सुख रहेगा, न मर्यादाएं, न पवित्र रिश्ते-नाते। स्वच्छन्द यौन सुख आधुनिक युवक-युवतियों को क्षणिक रूप से भले ही आकर्षक लगे किन्तु उस के परिणाम घातक होंगे।

आज पाश्चात्य समाजशास्त्री यूरोप की उन्मुक्त संस्कृति से चिन्तित हैं। वे पुनः मर्यादाओं में बांधने की बातें करने लगे हैं। कई देशों की सरकारें विवाह के लिए अपने युवक-युवतियों को प्रोत्साहित और प्रेरित कर रही हैं। कारण कि विवाह न होने से उन देशों की जनसंख्या घट रही है। वहां के जन समुदाय घट रहे हैं अर्थात् जातियां विनष्ट हो रही हैं। जो सन्तान उत्पन्न होती हैं उन्हें सरकारी अनाथालयों में छोड़ देते हैं। वह ऐसी पीढ़ी बन रही है जिन को अपने न माता-पिता से प्रेम मिलेगा, न उस का ज्ञान होगा। वे मानव नहीं बनेंगे या तो अपराधी बनेंगे या पशुवत्। विवाह की व्यवस्था भी न रह पायेगी। यूरोप के अधिकांश देशों में स्थिति यह

है कि स्कूल शिक्षा पूर्ण करते-करते ८० प्रतिशत छात्र-छात्राएं शारीरिक सम्बन्ध बना लेते हैं। परिणामस्वरूप गर्भपात के पाप होते हैं, एड्स जैसे अनेक रोग घर कर रहे हैं। युवकों में नपुंसकता व यौन रोग पनप रहे हैं। परिवार-समाज, गुरु-शिष्य की पवित्र परम्पराएं नष्ट हो रही हैं। इस प्रकार के पशुपन से कोई परिवार, समाज सुखी नहीं हो सकता। इसलिए पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, संयम, विवाह जैसी परम्पराएं हजारों वर्षों से परखी हुई हैं, अतः उन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। स्थायी और सच्चा सुख तो इन्हीं मानवीय परम्पराओं के पालन में निहित है।

यूरोपीय परिवारों में वह पारस्परिक स्नेह, सहयोग, सहिष्णुता, दयालुता, करुणा, सेवा आदि दिखाई नहीं पड़ते। छोटी-छोटी बातों पर तलाक हो जाते हैं। न वहां आदर्श गृहिणियां है, न आदर्श परिवार। क्या ऐसी स्थिति में सुखी गृहस्थ की कल्पना की जा सकती है ? कदापि नहीं।

स्त्री-पुरुष की समानता

यशोदा—हाँ बहन, यह बात तो ठीक है कि मर्यादाओं के पालन में ही मनुष्यता है, उसी में सुख-शान्ति है। पशुओं के समान भटकते रहने में सामाजिकता नहीं है, मर्यादित गृहस्थ जीवन में ही सामाजिकता है। किन्तु हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यूरोप में समानता और स्वतन्त्रता अधिक है। स्त्री-पुरुष में भेदभाव नहीं है।

सुखदा—हाँ, यह बात ठीक है कि यूरोप में समानता और स्वतन्त्रता अधिक है और भारत में अभी स्त्री को हीन और अधीन समझा जाता है। इस का कारण अशिक्षा और स्वावलम्बन का अभाव है। ज्यों-ज्यों ये कारण दूर होते जायेंगे त्यों-त्यों समानता और स्वतन्त्रता का व्यवहार बढ़ता जायेगा।

यह बात भी ध्यान देने की है कि हमारे यहां स्त्री के साथ अधीनता का व्यवहार आपत्तिजनक है तो यूरोप की समानता और स्वतन्त्रता में भी स्वच्छन्दता का व्यवहार आपत्तिजनक रूप में है। अतः वह भी परिवार के लिए सुखद नहीं है। वस्तुतः आज समानता और स्वतन्त्रता का अभिप्राय गलत लिया जा रहा है। स्त्री

यदि रोटी बनाये, बर्तन मांजे या कपड़े धोये तो पुरुष भी वह काम करे, यह भावना रखना समानता नहीं है। समानता का अभिप्राय है आपस में सम्मान, सहयोग और सन्तुष्टि का ध्यान रखना, एक-दूसरे के अधिकारों का हनन न करना। कार्य तो अलग-अलग हो सकते हैं। यह तो एक आपसी समझौता है कि स्त्री घर के अन्दर के कार्य अधिक करती है और पुरुष बाहर के। जैसे नौकरी, व्यापार में पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए भी समानता की भावना का हनन नहीं होता। उसी प्रकार घर में पृथक्-पृथक् जिम्मेदारियों का वहन करते हुए समानता की भावना का हनन नहीं होता। जो आधुनिक स्त्रियां यह हठ-भावना रखती हैं कि पुरुष से भी वे सभी कार्य करायें जो वे करती हैं तो यह एक नासमझी की भावना है। इस से मन में कटाव ही बनेगा। हाँ, कष्ट की स्थिति में पति-पत्नी में से किसी को कोई काम करने में संकोच नहीं करना चाहिए। पति-पत्नी जीवनसाथी हैं, अर्धांग-अर्धांगिनी हैं। जैसे, एक पैर, हाथ या शरीर के भाग को कष्ट होता है तो दूसरा भी दुःखी होता है, उसी प्रकार पति-पत्नी में प्रत्येक सुख-दुःख में भागीदारी होनी चाहिए। जहां इतना हार्दिक प्रेम हो वहां गृहस्थ जीवन में अलौकिक सुख की अनुभूति होती है। छोटी-छोटी बात पर प्रत्येक कार्य पर हठ करना या विवाद करना समानता नहीं अपितु घर की शान्ति भंग करना है।

दृष्टान्त—वस्तुतः पतिव्रता और अर्धांगिनी कौन पत्नी होती है, इस का उदाहरण सीता का चरित्र है। कैकेयी के षड्यन्त्र के कारण राम को चौदह वर्ष का बनवास मिला। लक्ष्मण को जब इस निर्णय का पता चला तो वह इसलिए भाई के साथ वन को गया कि बड़े भाई को वन में कोई कष्ट न हो। पत्नी सीता भी राम के साथ जाने के लिए तैयार हो गयी। सब ने उस को वन जाने से रोका किन्तु सीता नहीं मानी। उस ने कहा कि मैं पतिव्रता पत्नी हूँ और पतिव्रता पत्नी का कर्तव्य है कि वह जैसे सुख में साथ रहकर भागीदार बनती है उसी प्रकार दुःख में भी भागीदार बने। अर्धांगिनी, पत्नी को इसलिए कहते हैं कि आधे अंग अर्थात् पति को यदि कोई कष्ट होता है तो वह उसे भी अनुभव हो और वह उस को दूर करने का प्रयास करे। इस आदर्श को स्वीकार करके

सीता राम के साथ वन में गयी और सारे शृंगारों का परित्याग करके तपस्विनी के समान बनवास का समय व्यतीत किया और अपने पति की सेवा की। यही कारण है कि आदर्श पत्नी के रूप में सीता का स्थान सर्वोच्च और सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

गृहस्थ का लक्ष्य

यशोदा—बहन, अब मैं यह जानना चाहती हूँ कि वैदिक व्यवस्था के अनुसार गृहस्थाश्रम धारण करने का मुख्य प्रयोजन क्या है ? और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए गृहस्थ दम्पती का प्रमुख कर्त्तव्य क्या है ?

पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति में विवाह का प्रयोजन कामभाव की सन्तुष्टि माना जाता है। उस का प्रभाव आज भारतीय संस्कृति पर भी पड़ा है। क्या वैदिक संस्कृति में काम-सन्तुष्टि ही गृहस्थ का मुख्य प्रयोजन है ?

सुखदा—बहन, गृहस्थ का मुख्य लक्ष्य है सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंशपरम्परा व सृष्टि-परम्परा को आगे बढ़ाना और इस प्रकार माता-पिता के ऋण से उऋण होना। माता-पिता ने बहुत कष्ट उठाकर हमें जन्म दिया, फिर पालन-पोषण करके हमें योग्य एवं समर्थ बनाया। इस मनुष्य जन्म को पाकर अब हम चाहें तो श्रेष्ठ कर्म और भगवान् की उपासना करके मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। यह अवसर माता-पिता के द्वारा प्राप्त हुआ है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि हम सन्तानों को उत्पन्न कर उस परम्परा को आगे बढ़ायें और प्राणियों को मनुष्य, देव, ऋषि बनने का अवसर दें। अन्य सभी आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम से ही सम्भव है। यदि गृहस्थ में जन्म न होगा तो न आश्रम होंगे, न वर्ण और न सृष्टि का विकास। इसलिए, सन्तानोत्पत्ति करके उस का श्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में निर्माण करना अर्थात् उसे धार्मिक और विद्वान् बनाना गृहस्थ का प्रमुख लक्ष्य है।

वैदिक संस्कृति में काम-सन्तुष्टि गृहस्थ का प्रयोजन अवश्य है किन्तु मुख्य नहीं। मुख्य तो सन्तानोत्पत्ति है। वैदिक संस्कृति में सन्तानोत्पत्ति के लिए काम का सेवन विहित है, न कि काम-वासना की पूर्ति के लिए सन्तानोत्पत्ति और गृहस्थ का सेवन। शास्त्रों का आदेश है कि धर्मपूर्वक अर्थसंग्रह करना चाहिए, धर्म

और अर्थ पूर्वक काम का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम का विधिपूर्वक सेवन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करे।

यशोदा–शास्त्रों के अनुसार गृहस्थों को काम का सेवन उन्मुक्त रूप से करना चाहिए कि नियन्त्रित रूप से। क्या शास्त्रों में इस के लिए भी कुछ निर्देश है ?

सुखदा–हाँ, शास्त्रों में गृहस्थों के काम-सम्बन्धों के लिए स्पष्ट निर्देश हैं। वैदिक संस्कृति के अनुसार गृहस्थ को संयमपूर्वक काम-सेवन करना चाहिए, उन्मुक्त रूप से नहीं। यह मनोवैज्ञानिक बात है कि संयमपूर्वक काम-सेवन से पति-पत्नी में प्रेम दृढ़, आकर्षण चिरस्थायी, शरीर रोगरहित और व्यवहार मर्यादित बना रहता है। अति काम-सेवन रोगों का घर है। उन्मुक्त काम-सेवन के अभ्यस्त आधुनिक गृहस्थों को कुछ समय बाद ही अनेक रोग घेर लेते हैं। पति भी रोगी, पत्नी भी रोगिणी, फिर सन्तान पूर्ण स्वस्थ कैसे हो सकती है ?

शास्त्रों के अनुसार दम्पंती को कभी रजस्वला-काल में काम-सेवन नहीं करना चाहिए। यह भयंकर यौन रोगों का कारण बनता है। ऋतुकाल में ही समागम करना चाहिए। स्त्री का ऋतुकाल सोलह रात्रियों का माना गया है–रजोदर्शन की प्रथम रात्रि से लेकर सोलह रात्रियों तक। इनमें भी चार रात्रियां रजोदर्शन की, एकादशी, त्रयोदशी और पर्व (अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या) की रात्रियां। इस प्रकार आठ रात्रियां समागम के लिए वर्जित हैं और स्वास्थ्य की दृष्टि से निन्दित हैं। गृहस्थ शेष आठ रात्रियों में समागम कर सकता है। ऐसा मानना है कि इनमें सम रात्रियों में समागम से पुत्र प्राप्ति और विषम रात्रियों में समागम से पुत्री की प्राप्ति होती है। जो प्रतिमास केवल दो रात्रि समागम करता है, उसे शास्त्र संयमी और जितेन्द्रिय होने के कारण ब्रह्मचारी के समान मानते हैं।

सन्तान का निर्माण

यशोदा–सन्तान को धार्मिक और विद्वान् बनाने में माता-पिता का योगदान किस प्रकार सम्भव है ? यह काम तो शिक्षण संस्थाओं में आचार्यों और अध्यापकों का है।

सुखदा—किसी भी बच्चे के निर्माण में पहला महत्त्वपूर्ण योगदान माता-पिता का ही होता है। उस के बाद आचार्य और शिक्षक की बारी आती है। बच्चे का निर्माण गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाता है। यही कारण है कि हमारे ऋषि-मुनियों ने इसी से सोलह संस्कारों का आरम्भ माना है। माता-पिता के संस्कार-विचार, आहार-विहार जैसे गर्भाधान के समय और गर्भस्थ काल में होंगे वैसे ही संस्कार सन्तान के बनने लगेंगे। आज के चिकित्सा वैज्ञानिकों ने भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया है कि माता-पिता के संस्कार-आचरण सन्तान में आते हैं और गर्भाधान के समय तथा गर्भस्थ काल का भी बच्चे के अवचेतन मन पर सूक्ष्म प्रभाव पड़ता रहता है जो बड़े होने पर क्रियात्मक रूप में प्रकट होता है। महाभारत में आता है कि अभिमन्यु ने गर्भस्थ अवस्था में अपने पिता अर्जुन से चक्रव्यूह भेदने का वर्णन सुना था। उसी समय के संस्कारों ने उसे किशोरावस्था में ही इस कला में पारंगत बना दिया। इसी प्रकार अपराधी माता-पिता के बालक अपराध को ग्रहण कर लेते हैं। कला-विशेषज्ञ परिवारों में बालक कला में पारंगत होते जाते हैं। यह सब माता-पिता के संस्कारों का ही प्रभाव होता है।

शास्त्रों में कहा है—**''माता निर्मात्री भवति''** अर्थात् माता को 'माता' इसलिए कहते हैं क्योंकि वही वास्तव में सन्तान का निर्माण करने वाली होती है। माता की ममतामयी गोद में बालक सर्वप्रथम पलता है और विचार-आचार ग्रहण करता है। शैशव अवस्था में बालक कच्ची मिट्टी के समान कोमल मन का होता है। उस को जैसा रूप देंगे वही बन जायेगा। यह निर्माण माता-पिता के हाथ में होता है। इसीलिए शास्त्रों में पांच वर्ष की आयु तक माता को शिक्षिका माना है, फिर आठ वर्ष तक माता-पिता दोनों को। उस के बाद उसे गुरुकुल या पाठशाला में प्रवेश दिलाने का अनिवार्य विधान है।

दृष्टान्त—वैदिक व्यवस्था के अनुसार बालक को संस्कारित और शिक्षित करने की जिम्मेदारी सर्वप्रथम माता की है। बालक सब से पहले माता की गोद में पलता है अतः वह बालक को जैसा वीर-कायर, गुणी-अवगुणी, सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित संस्कारों का बनाना चाहे, वैसा ही बना सकती है। शिवा जी को

वीरता के संस्कार माता जीजाबाई की शिक्षा से ही मिले थे। उसी की प्रेरणा से शिवा जी ने निडर होकर विशाल मुगल साम्राज्य से संघर्ष किया और खोया हुआ आर्य (हिन्दू) साम्राज्य पुनः प्रतिष्ठित किया।

जीजाबाई का जन्म १५९७ में सिन्दखेड़ शासक जाधवराव के घर हुआ। विवाह मालो जी के पुत्र शाह जी के साथ हुआ। पहले दोनों परिवारों में स्नेह था किन्तु बाद में यह शत्रुता में बदल गया। जीजाबाई के पिता जाधवराव मुगलों के साथ थे, उन को शाह जी को गिरफ्तार करने का जिम्मा सौंपा। शाह जी उस के हाथ नहीं आया। वह जीजाबाई को शिवनेर के दुर्ग में छोड़ बीजापुर चला गया। जीजाबाई को पति से अलग एकाकी जीवन बिताना पड़ा। शिवनेर दुर्ग में १० अप्रैल १६२७ ईस्वी को जीजाबाई ने शिवा जी को जन्म दिया। उसी ने अपने मार्ग-दर्शन में शिवा जी को शिक्षा-दीक्षा दिलवायी। वह स्वयं भी उस को रामायण-महाभारत की आदर्श और वीरतापूर्ण कहानियां सुनाती और उस को राष्ट्रप्रेम तथा स्वराज्य प्राप्ति के संस्कार देती। उसी शिक्षा का यह परिणाम निकला कि शिवा जी ने स्वराज्य प्राप्त करके ही दम लिया।

इसी प्रकार शकुन्तला ने अपने पुत्र भरत को वन में रहते हुए निडरता और वीरता की शिक्षा दी। वह वीर बालक इतना निडर बना कि बचपन में ही शेर के बच्चों को पकड़कर उन के दांत गिनता था। बड़ा होकर वह इस देश का चक्रवर्ती शासक बना जिस के नाम से भारत वंश प्रसिद्ध हुआ। कुछ लोगों का मानना है कि इस देश का भारत नाम उसी राजा के कारण पड़ा। इस प्रकार माता सन्तान का निर्माण करने वाली होती है। वह निर्माण तभी कर सकती है जब स्वयं शिक्षित और धार्मिक हो।

बच्चा उपदेश और शिक्षा के साथ-साथ वातावरण से बहुत कुछ सीखता है। अपितु अधिक सीखता है। यदि माता-पिता की कथनी-करनी में अन्तर होगा तो उस पर 'करनी' का अधिक प्रभाव पड़ेगा। इसलिए सन्तान के निर्माणकाल में माता-पिता और घर का वातावरण उसी के अनुरूप होना आवश्यक है जैसा वे सन्तान का निर्माण करना चाहते हैं।

इसी तरह बालक को गलत संगति में अथवा गन्दे बच्चों की

संगति में न तो बैठने देना चाहिए और न उन के साथ खेलने देना चाहिए। गलियों में व्यर्थ घूमना, पशु-पक्षियों को ढेले आदि मारना, गालियां देना, उल्टा बोलना, रोना-चीखना, हठ करना, कीट-पतंगों को मारना, बीड़ी, सिगरेट, हुक्का पीना, ताश-चौपड़ खेलना, घर से पैसे चुराकर बाजार की चीजें खाना, ये गन्दे बच्चों की आदतें हैं। ऐसे बच्चों की संगति नहीं करने देनी चाहिए।

बच्चों को हठ या गलती करने पर बहुत कठोर अनुशासन नहीं करना चाहिए। ऊंची आवाज में सदा नहीं बोलना चाहिए। हर समय डांट-डपट, मार-पीट और दुत्कार-फटकार नहीं करनी चाहिए। उस से बच्चे या तो ढीठ बन जाते हैं या डरपोक। उन्हें प्यार और प्यार पूर्ण फटकार से वश में करना चाहिए। माता-पिता बच्चों को केवल नौकरों के भरोसे न छोड़ें। दिन में थोड़ी देर के लिए ही सही, गोदी में अवश्य खिलाना चाहिए, उस से बच्चे में अपनत्व-ममत्व पैदा होता है। कभी आवश्यकता पड़े तो अपने हाथों से उस की सेवा करनी चाहिए ताकि उस के मन में माता-पिता की सेवा की भावना पैदा हो। इसी तरह अपने हाथ से तथा पास बैठाकर खिलाना चाहिए।

सन्तान धार्मिक बने, इस के लिए जरूरी है कि सन्तानों को धार्मिक शिक्षा दें, धार्मिक कथा सुनायें। भगवान् की उपासना, सत्संग, यज्ञ आदि में सन्तानों को साथ रखें ताकि उन में धार्मिकता के संस्कार विकसित हो सकें। धार्मिक सन्तान ही माता-पिता की सेवा-संभाल करने वाली होती है।

सन्तान पर अपनी रुचियां थोपें नहीं अपितु समझा-बुझाकर प्रेरित करें। उस की किस शिक्षा-विद्या में रुचि है, उस को परखें और उसी दिशा में उस को बढ़ने दें तथा प्रोत्साहित करें। प्रत्येक दिन सन्तान की शिक्षा और गतिविधियों की जानकारी अवश्य प्राप्त करें। जानकारी न रखने वाले और नियन्त्रित न करने वाले माता-पिता सन्तान के बिगड़ने में दोषी होते हैं।

बालक बचपन में अनुशासन सीखता है, बड़ा होकर नहीं। इसलिए उस को बाल्यकाल में अनुशासित करें और जो दिशा देनी है उस पर चलायें।

धर्म और शिक्षा में कन्या का अधिकार

यशोदा—सन्तान के निर्माण के लिए आपने बहुत उत्तम बातें बतलायीं। क्या कन्याओं को भी धार्मिक शिक्षा दी जाने चाहिए और धर्मानुष्ठान करना चाहिए। पौराणिक लोग कहते हैं कि कन्याओं को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं है। यज्ञ आदि धर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?

सुखदा—पुत्र और पुत्री में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए। कन्याओं के लिए किसी भी प्रकार की भेदभाव पूर्ण बातें करना बौद्धिक संकीर्णता का परिचायक है और मानवता के विरुद्ध है। कन्या भी मनुष्य जाति के अन्तर्गत आती है। जैसे लड़के हैं, वैसे ही कन्याएं हैं। जैसे पुरुष हैं वैसे ही महिलाएं हैं। उन में भेदभाव करना अन्याय है। वैदिक काल में पुरुष और नारी में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था अपितु नारी का महत्त्व परिवार तथा समाज में अधिक था। पौराणिक काल में यह संकीर्ण भावना पनपी और रूढ़िवादी लोग आज भी उस का अन्धा समर्थन करते हैं। जिस मां की कोख से पुरुष जन्म लेता है उसी का तिरस्कार करना, उस के साथ भेदभाव करना, अन्याय करना कृतघ्नता रूपी पाप है।

जिन वेदों का नाम लेकर पौराणिक लोग उन्हें वेद के अध्ययन और धार्मिक अधिकार से वर्जित करने की बात करते हैं उन्हीं वेदों में स्पष्टतः कन्याओं को वेद-शास्त्र पढ़ने का अधिकार वर्णित है। वेद कहता है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

—यजु० २६ । २ ॥

अर्थात्—परमेश्वर कहता है कि यह वेदवाणी मैंने सभी जनों के लिए समान रूप से प्रदान की है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और उस के परिजन स्त्री, भृत्य आदि सभी के लिए इस का उपदेश है। अथर्ववेद में कन्याओं के लिए भी ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक विदुषी बनकर विवाह करने का निर्देश है—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।"

—अथर्व ११।५।१८॥

अर्थात्—'ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर विदुषी बनके, युवती होकर, कन्या अपने समान पति का विवाह के लिए वरण करे।' ब्रह्मचर्य आश्रम में यज्ञोपवीत धारण और यज्ञ आवश्यक धर्म हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि कोई भी यज्ञ पत्नी की उपस्थिति के बिना पूर्ण नहीं होता। स्मृतिग्रन्थों में धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजन का दायित्व पत्नी का बतलाया है। प्राचीन इतिहास में पार्वती, सीता, द्रौपदी आदि के द्वारा सन्ध्या, यज्ञ आदि करने का उल्लेख आता है। गार्गी, मैत्रेयी आदि शास्त्रों में पारंगत विदुषियां थीं। वेदों में अनेक ऋषिकाओं के नाम आते हैं जो मन्त्रद्रष्ट्री थीं।

वेद परमात्मा की वाणी है। परमात्मा अपने दिये पदार्थों में कोई भेदभाव नहीं करता। सभी मनुष्य परमात्मा के एक जैसे पुत्र-पुत्री हैं और उस के दिये पदार्थों पर सब का समान अधिकार है। जैसे परमात्मा के दिये अग्नि, जल, प्रकाश आदि पदार्थों पर सब का समान अधिकार है, उसी प्रकार वेदवाणी और परमात्मा की उपासना पर भी है। नारी दो घरों का निर्माण करने वाली होती है। यदि वह अशिक्षित होगी तो सन्तानें शिक्षित कैसे हो सकती हैं? जब से नारी को शिक्षा से वंचित किया तब से देश का पतन हुआ है। इसलिए शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से कन्याओं का अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक अनुष्ठान करना सिद्ध है। इस के विपरीत बात करने वाले लोग बुद्धिहीन, अदूरदर्शी, मानवताद्रोही और शास्त्र-विरोधी हैं। ऐसी विचारधारा से हमारे देश-समाज ने बहुत हानि उठायी है। उन के संकीर्ण विचारों को कदापि न मानना प्रत्येक नारी का कर्त्तव्य है। इसी में नारी जाति और मनुष्य जाति का हित है।

दृष्टान्त—प्राचीन काल में महिलाएं वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पण्डिता और ब्रह्मवादिनी ऋषिकाएं बनती थीं। भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक ऋषिकाओं का वर्णन मिलता है। उन में दो ऋषिकाएं गार्गी और मैत्रेयी बहुत प्रसिद्ध हैं।

महाराजा जनक स्वयं ब्रह्मवेत्ता और शास्त्रों के ज्ञाता राजर्षि थे। वे समय-समय पर विद्वानों-ऋषियों की गोष्ठियां करते रहते

थे। एक बार मिथिला राजधानी में उन्होंने ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की एक गोष्ठी आयोजित की। उस में ब्रह्मवादिनी गार्गी वाचक्नवी भी उपस्थित हुई। इस गोष्ठी में सर्वोच्च ब्रह्मवेत्ता ऋषि महर्षि याज्ञवल्क्य थे। परस्पर प्रश्नोत्तर होने लगे। ऋषिका गार्गी ने ऐसे गम्भीर प्रश्न किये कि उन से याज्ञवल्क्य विचलित हो गये और उन्हें कहना पड़ा कि 'गार्गी ! बस बहुत हो गया। अब और प्रश्न मत करो। अधिक प्रश्न करने ठीक नहीं।

मैत्रेयी महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी थी। जिस समय याज्ञवल्क्य संन्यास लेकर गृहत्याग करने लगे तो अपनी सम्पत्ति मैत्रेयी को सौंपने लगे। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि 'क्या इस सम्पत्ति से मुझे मुक्ति प्राप्त हो जायेगी ?'

'नहीं।' याज्ञवल्क्य ने कहा।

'तो फिर यह सांसारिक सम्पत्ति मेरे किस काम की?'' मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा। फिर उस ने सारी सम्पत्ति को अस्वीकार कर दिया और वह भी संन्यासी बनकर गृहत्याग कर याज्ञवल्क्य के साथ तपस्या करने के लिए वन को चली गयी। वह शास्त्रों की अद्भुत पण्डिता थी और ब्रह्म को जानने वाली बनी। इसी कारण वह 'ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी' के नाम से प्रसिद्ध है।

गृहस्थ के धार्मिक कर्त्तव्यों में पत्नी का महत्त्व–

यशोदा–गृहस्थ को प्रतिदिन किन धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए और उस में पत्नी की सहभागिता क्या है? क्या पत्नी को धार्मिक अनुष्ठान करने का अधिकार है ?

सुखदा–धर्मशास्त्रों में गृहस्थ व्यक्ति या पति-पत्नी को प्रतिदिन पांच महायज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए। वे हैं– १. ब्रह्मयज्ञ, २. देवयज्ञ, ३. बलिवैश्वदेव यज्ञ, ४. पितृयज्ञ, ५. अतिथि-यज्ञ। जब तक शरीर में शक्ति है इन का किसी अवस्था या परिस्थिति में त्याग नहीं करना चाहिए। यह समझिये कि ये अनिवार्य कर्त्तव्य हैं। घर के धार्मिक अनुष्ठानों में पत्नी की मुख्य भूमिका होती है। इन का प्रबन्ध, आयोजन और सहभागिता, पत्नी का दायित्व है। पत्नी के बिना, वैदिक संस्कृति में कोई धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण नहीं माना जाता। महर्षि मनु कहते हैं–

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

—मनुस्मृति ९।२८॥

अर्थात्—'सन्तान को जन्म देना, घर के धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन करना, सेवा-संभाल, रति-सुख, पति का अपना तथा पिता आदि बुजुर्गों का सुख, ये सब स्त्रियों के अधीन कार्य हैं।' अभिप्राय है कि परिवार में धार्मिक अनुष्ठान की दृष्टि से भी स्त्रियों का सर्वाधिक महत्त्व है। उक्त पांच महायज्ञों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. इनमें प्रथम **ब्रह्मयज्ञ** अर्थात् सन्ध्या है। इस यज्ञ के अन्तर्गत गृहस्थ दम्पती को प्रतिदिन दिनचर्या से निवृत्त होकर, स्नान के उपरान्त सायं प्रातः एकाग्र मन से, निर्धारित मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना पूर्वक सन्ध्या करनी चाहिए। ईश्वर का जप और ध्यान करना चाहिए। इस के साथ वेदमन्त्रों और शास्त्रों का स्वाध्याय भी करना चाहिए। ईश्वर की उपासना से मनुष्य का जीवन पवित्र होता है, वह सन्मार्गगामी रहता है। स्वाध्याय से बुद्धि तथा ज्ञान की वृद्धि होती है और मोक्ष का पथ प्रशस्त होता है।

२. दूसरा **देवयज्ञ** है। इस को होम या हवन और अग्निहोत्र भी कहते हैं। इस के अन्तर्गत यज्ञकुण्ड में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके उस में घी, सामग्री और मिष्ट तथा पौष्टिक पदार्थों की आहुति देते हैं। आहुति भस्म होकर सर्वत्र व्याप्त होकर शुद्धि करती है। यज्ञ में आहुतियां निर्धारित विधि तथा मन्त्रों के अनुसार देनी चाहिएं। होम से ईश्वर की उपासना और पर्यावरण की शुद्धि होती है। पर्यावरण की शुद्धि से घर में रोग नहीं आते।

तीसरा **बलिवैश्वदेव यज्ञ** है। अपने पकाये गये भोजन में से पहले ही, प्रतिदिन गाय आदि पशुओं, पक्षियों, कीट-पतंगों के लिए उन के खाने के लिए भाग निकालकर रखना बलिवैश्वदेव यज्ञ है। इस का भूतयज्ञ नाम भी है। इस से व्यक्ति में परोपकार, दया, करुणा, सहयोग, त्याग की भावना का विकास होता है और प्राणियों का जीवन सुरक्षित रहता है।

चौथा **पितृयज्ञ** है। माता-पिता, सास-ससुर आदि वयोवृद्धों (बजुर्गों) की प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अन्न-जल, फल-मूल, वस्त्र

आदि से सन्तुष्टि रखना और सेवा-संभाल करना। श्राद्ध भी इसी का नाम है क्योंकि ये कार्य श्रद्धापूर्वक किये जाते हैं। यह हमारा माता-पिता आदि के ऋण से उर्ऋण होने का कर्त्तव्य है। मरे हुओं का श्राद्ध करना अवैदिक है और पाखण्ड है। वह न करें।

पांचवां **अतिथियज्ञ** या नृयज्ञ है। समय-असमय में घर में आने वाले श्रेष्ठ संन्यासी, महात्मा, विद्वान्, बन्धु-बान्धव आदि जनों का भोजन, जल, निवास आदि से यथायोग्य स्वागत-सम्मान करना। इस से अतिथियों को आश्रय तथा सम्मान मिलता है और उन की संगति से परिवार में सुसंस्कार बनते हैं।

इन लोगों का सत्कार नहीं करना चाहिए–पाखण्डी-ढोंगी और केवल साधुवेशधारी; चोर, डाकू, लुटेरे, हत्यारे आदि अपराधी; ईर्ष्या, द्वेष, अहंकारी और धर्मद्वेषी, अधर्मी इन्हें 'वैडाल-वृत्ति'=बिल्ली जैसे स्वभाव का कहा है; धूर्त, कुतर्की-बकवादी और बगुलाभक्त अर्थात् धोखेबाज और कपट वेशवाला, ऐसे लोगों को न तो अतिथि के रूप में सत्कृत करें, न दान आदि दें। शास्त्रों में तो यहां तक कहा है कि ऐसों का वाणी से भी सम्मान न करें।

गृहस्थ तथा वानप्रस्थ को ये पांच यज्ञ प्रतिदिन करने चाहिएं ब्रह्मचारी को केवल सन्ध्या और होम प्रतिदिन करने चाहिएं।

सोलह संस्कार

यशोदा–मैंने सुना है कि यज्ञों के समान सोलह संस्कार भी करने चाहिएं। वैदिक संस्कृति में इन्हें धर्म माना गया है। कृपया, सरल शैली में समझाने का कष्ट करें कि संस्कार का क्या अर्थ और लक्ष्य है? वे कौन से हैं?

सुखदा–आपका कहना सही है कि वैदिक संस्कृति में यज्ञों के समान संस्कार भी आवश्यक कर्त्तव्य हैं और इन को धर्म माना गया है।

'संस्कार' का अर्थ है–अच्छा बनाना, सुधारना, चमकाना, सजाना, परिमार्जन, परिष्कार आदि। जिन अनुष्ठानों के द्वारा बालकों या मनुष्यों को अच्छे संस्कारों में ढाला जाता है अथवा अच्छा बनाया जाता है अथवा जीवन या शरीर की शुद्धि की जाती है उसे 'संस्कार' कहते हैं। मनुष्यों की मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक उन्नति कर उन्हें सुसंस्कृत करना संस्कारों का लक्ष्य है।

जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं, वह संस्कार शब्द से ही बनती है। संस्कारों के बिना संस्कृति का अस्तित्व नहीं होता। जैसे मैले बर्तनों को मांज-धोकर स्वच्छ चमकीला बनाया जाता है, उसी प्रकार संस्कारों के अनुष्ठान से मनुष्यों को भी स्वच्छ, सुसंस्कृत बनाया जाता है। उसी का नाम संस्कृति-सभ्यता है। उन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. गर्भाधान संस्कार—गर्भाधान वंशवृद्धि की प्राकृतिक प्रक्रिया है। इस को कामभावना वश नहीं करना चाहिए। सन्तान उत्पत्ति की इच्छा होने पर शरीर को स्वस्थ और मन को प्रसन्न रखके योजना-विचार पूर्वक सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिए। भावी सन्तान के संस्कार अच्छे बनें, इस के लिए उस के पूर्व शास्त्रों में विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान करने चाहिए। गर्भ स्थिर और पुष्ट रहे तथा सन्तान स्वस्थ हो इस के लिए उस काल में विशेष भोजन एवम् औषध सेवन करना चाहिए।

२. पुंसवन संस्कार—गर्भस्थिति का निश्चय होने पर दूसरे या तीसरे मास में गर्भस्थ बालक की पुष्टि के लिए यह अनुष्ठान करना चाहिए। तदनुकूल रहन-सहन, खान-पान करना चाहिए।

३. सीमन्तोन्नयन संस्कार—चौथे मास में यह अनुष्ठान करके ऐसे उपाय करने चाहिएं जिस से गर्भ की पुष्टि, दृढ़ता बने। गर्भिणी के मन की प्रसन्नता रहे और स्वास्थ्य उत्तम बने।

४. जातकर्म संस्कार—सन्तान की उत्पत्ति के समय यह संस्कार किया जाता है। बालक को मलरहित और स्वच्छ करके उस की जिह्वा पर शहद-घी से **'ओ३म्'** लिखा जाता है।

५. नामकरण संस्कार—बालक के उत्पन्न होने के १०, ११, १०१ वें दिन अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में धार्मिक अनुष्ठान कर बालक का मधुर, सरल और सार्थक नाम रखा जाता है।

६. निष्क्रमण संस्कार—जन्म के चौथे मास में अनुष्ठानपूर्वक बालक को घर से बाहर निकालना और घुमाना आरम्भ करना।

७. अन्नप्राशन संस्कार—जन्म के छठे मास में अनुष्ठानपूर्वक बालक को अन्न खिलाना आरम्भ करना।

८. चूड़ाकर्म संस्कार—जन्म के एक वर्ष अथवा तीसरे वर्ष में अनुष्ठानपूर्वक बालक का मुण्डन संस्कार करना।

९. कर्णवेध संस्कार—जन्म से तीसरे अथवा पांचवें वर्ष में बालक का कान बींधना तथा बालिका के कान व नाक बींधना और इस उपलक्ष्य में अनुष्ठान करना।

१०. उपनयन संस्कार—बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार कर उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देना। ५ वर्ष तक माता और आठ वर्ष तक पिता शिक्षा दे। शिष्टाचार, शुद्ध उच्चारण आदि सिखाना।

११. वेदारम्भ संस्कार—आठ वर्ष के उपरान्त गुरुकुल में प्रवेश और आचार्य द्वारा वेद का अध्ययन प्रारम्भ करना और उस से पूर्व इस विषयक अनुष्ठान करना। यह ब्रह्मचर्य आश्रम का समय है जो कम से कम पच्चीस वर्ष तक होना आवश्यक है।

१२. समावर्तन संस्कार—विद्या प्राप्त करके अर्थात् स्नातक होके घर को लौटते समय किया जाने वाला दीक्षा-संस्कार। इसे आजकल 'दीक्षान्त समारोह' जैसा समझना चाहिए। इस अवसर पर धार्मिक अनुष्ठान के साथ आचार्य स्नातक से भावी प्रतिज्ञाएं कराता है।

१३. विवाह—समावर्तन के बाद गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल योग्य वर-वधू का संयोग होना 'विवाह' संस्कार है। विवाह परस्पर की प्रसन्नता से होना चाहिए और विवाह पश्चात् पति-पत्नी को एक-दूसरे की प्रसन्नता का ध्यान रखना चाहिए। अप्रसन्नतापूर्ण वातावरण में न तो सन्तान उत्तम होती है और न गृहस्थ सुखदायक होता है। स्वयंवर विवाह सर्वोत्तम है।

१४. वानप्रस्थ—गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन कर लेने के बाद वानप्रस्थ धारण करने के लिये यह संस्कार होता है। पचास वर्ष की आयु होने पर अथवा पुत्र का पुत्र होने पर दम्पती को घर छोड़कर आश्रम में चला जाना चाहिए और वहां ईश्वर उपासना, स्वाध्याय, साधना, तप के द्वारा आत्मोन्नति करनी चाहिए। विद्या का प्रचार-प्रसार करना भी वानप्रस्थ का कर्त्तव्य है।

१५. संन्यास संस्कार—वानप्रस्थ में रहकर पिचहत्तर वर्ष के बाद अथवा जिस दिन संसार से सच्चा वैराग्य हो जाये उस दिन संन्यास आश्रम को धारण करना 'सन्यास संस्कार' कहलाता है। संन्यासी का कर्त्तव्य है लोकोपकार करना तथा धर्म, वेद, सत्य-विद्या आदि का प्रचार-प्रसार करना और लोगों को सदुपदेश देकर

सन्मार्ग पर चलाये रखना।

१६. अन्त्येष्टि संस्कार–शरीर छूटने पर अनुष्ठानपूर्वक, घृत व सामग्री के साथ दाहकर्म करना। अन्त्येष्टि के बाद मृतक व्यक्ति से सम्बन्धित कोई कर्म शेष नहीं बचता। इस प्रकार सोलह संस्कार पूर्ण होते हैं जिन से मन और शरीर या जीवन की शुद्धि होती है।

वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

यशोदा–वैदिक संस्कृति में मनुष्य निर्माण के लिए छोटी से छोटी बात का गम्भीरता से ध्यान रखा गया है, ऐसा इन संस्कारों के आयोजनों से ज्ञात होता है। इन्हीं के अन्तर्गत चार आश्रम का परिचय तो आ गया। इनके अतिरिक्त वैदिक संस्कृति या व्यवस्था में चार वर्णों का भी उल्लेख आता है। उन से क्या अभिप्राय है? कृपया, उन का भी कुछ परिचय दीजिए।

सुखदा–वैदिक संस्कृति या व्यवस्था में संस्कार और आश्रम व्यक्तिगत उन्नति के उपाय हैं जबकि वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था है। इन की रचना सामाजिक उन्नति और राष्ट्र की उन्नति के लिए हुई है। समाज को चार समुदायों में बांटकर उन के कर्त्तव्य कर्म निर्धारित किये गये हैं। वर्ण-व्यवस्था के प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति एक कुशल (प्रशिक्षित) नागरिक बनकर समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाकर उन की उन्नति करता है। वर्ण चार हैं– १. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य, ४. शूद्र। वैदिक व्यवस्था में ये जन्म के आधार पर नहीं होते, कर्म के अनुसार होते हैं। व्यक्ति जैसे कर्म करता है, जैसा प्रशिक्षण प्राप्त करता है, उसी के अनुसार उस का वर्ण घोषित किया जाता है, चाहे जन्म से वह किसी कुल में पैदा हुआ हो। जन्म से वर्ण-व्यवस्था माना जाना वैदिक व्यवस्था का विकृत रूप है। वैदिक व्यवस्था के अनुसार तो यदि कोई एक बार किसी वर्ण का चुनाव करके दूसरा वर्ण बदलना चाहे तो वह उस का प्रशिक्षण प्राप्त करके बदल सकता है। जैसे आज कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके अपने इच्छित व्यवसाय का चुनाव कर सकता है उसी प्रकार वैदिक व्यवस्था में कर सकता था। जन्म से वर्ण-व्यवस्था मानने और वर्णों को ऊंच-नीच, छूत-अछूतपन से जोड़ने की विकृति पौराणिक

विचारधारा से उत्पन्न हुई है। यह मान्य नहीं है।

वैदिक व्यवस्था के अनुसार, गुरुकुल में प्रवेश लेकर जो विद्यार्थी सभी विद्याओं को पढ़कर अध्यापन और याजन अर्थात् यज्ञ आदि कराने का कार्य करता था, वह ब्राह्मण कहलाता था। जो विद्याओं को पढ़कर राजनीति, युद्धनीति, शस्त्रास्त्र संचालन शिक्षा प्राप्त कर राजा या सैनिक बनता था अथवा शासन चलाने का काम करता था, वह क्षत्रिय कहलाता था। जो विद्या पढ़कर व्यापार, खेती-बाड़ी, पशुपालन और शिल्पनिर्माण का व्यवसाय करता था, वह वैश्य कहलाता था। जो इन तीन वर्णों की शिक्षा, जानबूझकर अथवा बुद्धि की कमी के कारण नहीं प्राप्त करता था, अनपढ़ होने के कारण वह शूद्र कहा जाता था। ऐसा आदमी कोई भी बौद्धिक कार्य नहीं कर सकता, इस कारण वह शारीरिक श्रम के कार्य, जैसे भोजन पकाना, वस्त्र धोना, मजदूरी, सेवा आदि करता था। इनमें कोई छोटा-बड़ा व्यवसाय न होकर प्रत्येक वर्ण का महत्त्व था। विद्या और गुणों की दृष्टि से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान था।

यशोदा– हमारे ऋषि-मुनियों ने ये तो बहुत सुन्दर एवं कल्याणकारी व्यवस्थाएं दी हैं। इस से तो व्यक्ति, परिवार और समाज का कल्याण भी होता है और स्नेह, सद्भाव एवं सुसंस्कार भी बनते हैं। यह व्यवस्था तो मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने वाली व्यवस्था है।

सुखदा–हाँ बहन, तुम बिल्कुल ठीक समझी हो। मुझे प्रसन्नता है कि मेरा समझाना सफल हो रहा है और समय का सदुपयोग हो रहा है।

धर्मशास्त्रों में नारी-सम्मान और नारी-निन्दा

यशोदा–ऐसा सुनने में आता है कि मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में नारी की बहुत निन्दा की गयी है और उसे पुरुष के समान न मानकर उपेक्षा योग्य माना गया है। क्या यह सही है?

सुखदा–कुछ नयी स्मृतियों में या सूत्रग्रन्थों में नारी के प्रति उपेक्षणीय वचन हो सकते हैं किन्तु प्राचीन धर्मशास्त्र मनुस्मृति में तो नारी का महान् सम्मान किया गया है और सभी परिजनों को स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे नारी को कष्ट न दें, प्रसन्न रखें, सम्मान

दें, उस की आवश्यकताओं को पूर्ण करें। एक-दो प्रमाणों से आप को मनुस्मृति की विचारधारा का अनुमान हो जायेगा। मनु महाराज कहते हैं-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ -मनु० ३।१६॥

अर्थात्-'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् सम्मान होता है वहां देवता अर्थात् दिव्य सन्तान, दिव्य गुण और दिव्य भोग प्राप्त होते हैं। जहां इन का तिरस्कार होता है वहां गृहस्थ के सब कार्य असफल हो जाते हैं अर्थात् पत्नी की सहमति-सन्तुष्टि के बिना गृहस्थाश्रम में सफलता नहीं मिलती।' इसीलिए मनु आदेश देते हैं-

पितृभिः भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ -मनु० ३।५५॥

अर्थात्-'परिवार के पुरुष सदस्यों जैसे पिता, दादा, ससुर, पति, भाई, जेठ, देवर आदि का कर्त्तव्य है कि वे स्त्रियों को आदर दें और वस्त्र, आभूषण आदि से सुभूषित रखें। इसी में परिवार का अधिक कल्याण सम्भव है।' इस के विपरीत आचरण से उस का दुष्परिणाम यह निकलता है-

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैताः वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ -मनु० ३।५७॥

अर्थात्-'जिस कुल में स्त्रियां शोकग्रस्त रहती हैं वह कुल बहुत शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है, उस का पतन होता जाता है। जहां ये शोकग्रस्त न रहकर प्रसन्न रहती हैं वह बढ़ता जाता है, उन्नति करता जाता है।'

इन श्लोकों से आप अनुमान लगा सकती हैं कि मनु ने स्त्रियों का कितना सम्मान, सुरक्षा, संरक्षण किया है। इतना सम्मान होते हुए भी जो लोग मनु को नारी-निन्दक कहते हैं, वे अज्ञान, स्वार्थ या दुराग्रह वश ऐसा कहते हैं।

यशोदा-सचमुच, यह तो नारी का महान् सम्मान है। इस से बढ़कर उस का सम्मान और संरक्षण नहीं हो सकता। जो लोग वैदिक शास्त्रों में नारी की निन्दा की बात करते हैं, वे लोगों को गुमराह करते हैं, आपकी युक्ति और प्रमाणों से मुझे यह निश्चय हो गया है।

सुखदा—आपने बिल्कुल ठीक समझा। वैदिक संस्कृति में नारी का उच्च और सम्मानित स्थान रहा है। पौराणिक काल में नारी के प्रति संकीर्ण और भेदभाव की भावना पनपी है। पुराने शास्त्रों में कहीं-कहीं कोई नारी-निन्दक वचन आता भी है तो उसे बाद के लोगों ने रचकर पुराने ग्रन्थों में मिला दिया है। उस को मिलावट मानकर छोड़ देना चाहिए।

यशोदा—ठीक है बहन, आज इस चर्चा को यहीं तक रखते हैं। कल फिर इसी विषय पर कुछ जानकारी प्राप्त करना चाहूंगी।

सुखदा—अवश्य, आप आइये, आपका स्वागत होगा।

(नमस्ते करके यशोदा अपने घर को लौट जाती है।)

तीसरा दिन

(२) गृहस्थ धर्म और सुखी गृहस्थ

यशोदा—बहन सुखदा नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते बहन! आइये, विराजिये।

यशोदा—आपने कल गृहस्थ के सम्बन्ध में जो कर्त्तव्य, और विधान बताये थे, मैंने घर के सदस्यों को बताये। उन्होंने बड़ी रुचि के साथ उन को सुना और आश्चर्य किया कि वैदिक संस्कृति में गृहस्थ के इतने ऊंचे आदर्श हैं। वे कहने लगे कि हम तो अभी तक एक तरफा रूढ़िवादी और पक्षपातपूर्ण उपदेश सुनते आये थे।

सुखदा—बहुत अच्छी बात है कि आपके परिवार के सदस्य इस विषय के जानने में रुचि ले रहे हैं। कुछ संकीर्ण विचारधारा के लोग पक्षपातपूर्ण बातें करके वैदिक संस्कृति को बदनाम करते हैं। वैदिक संस्कृति ही असली पुरातन भारतीय संस्कृति है। सही बातों का जब इस प्रकार प्रचार होगा तो लोग सब समझ जायेंगे और उन की भ्रान्ति और पक्षपातपूर्ण बातों को मानना बन्द कर देंगे। अच्छा, आज क्या पूछना चाहती हैं, पूछिये ?

सुखी गृहस्थ के उपाय

यशोदा—मैं यह जानना चाहती हूँ, कि वैदिक संस्कृति में सुखी गृहस्थ हेतु पति-पत्नी के लिए किस भावना को सर्वाधिक

महत्त्व दिया गया है ?

सुखदा–वैदिक संस्कृति में सुखी गृहस्थ के लिए हार्दिक एकता, समर्पण, पारस्परिक सन्तुष्टि-प्रसन्नता और चिरमित्रता को मुख्य आधार माना गया है। वेद के वैवाहिक मन्त्रों में प्रतिज्ञा करायी जाती है–

सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

–अथर्ववेद ३।३०।१॥

अर्थात्–परमेश्वर उपदेश देता है कि मैं तुम पति-पत्नी को एक हृदय वाला, एक विचारवाला, द्वेषभाव रहित रहने का उपदेश देता हूँ। तुम इस प्रकार परस्पर प्रेम करो जैसे तुरन्त जन्मे बछड़े को गाय प्रेम करती है। प्रेम से घर में सन्तुष्टि का वातावरण बनेगा। जहां सन्तुष्टि होगी वहां सब सुख होगा, जहां सन्तुष्टि नहीं होगी वहां कुछ भी सुख नहीं होगा। इसी में समानता, सम्मान, सहयोग सब व्यवहार निहित हैं। इसीलिए महर्षि मनु ने दम्पती के व्यवहार में इसी बात पर सर्वाधिक बल दिया है–

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

–मनु० ३।६०॥

अर्थात्–'जिस कुल में पत्नी से पति सन्तुष्ट-प्रसन्न रहता हो और पति से पत्नी सन्तुष्ट-प्रसन्न रहती हो, उस परिवार का निश्चय ही सदा कल्याण होता है।' अभिप्राय यह है कि 'जिस पति-पत्नी को अपने कुल का कल्याण चाहिए। उसे एक दूसरे की सन्तुष्टि का ध्यान रखना चाहिए।' कितनी अद्भुत समानता और सम्मान का व्यवहार बतलाया है वैदिक ऋषियों ने। इस व्यवहार से परिवार के सारे ही झगड़े समाप्त हो जाते हैं।

इसी समानता के सिद्धान्त को आधार बनाकर एक अन्य स्थान पर पति-पत्नी के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निष्कर्ष ही दे दिया है महर्षि मनु ने। वे कहते हैं–

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ –मनु० ९।१०२॥

अर्थात्–'विवाह-संस्कार होने के बाद स्त्री और पुरुष सदा यह यत्न रखें कि उन में एक-दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार न होने पाये जिस से एक-दूसरे से सम्बन्धविच्छेद होने का अवसर उपस्थित हो जाये। अभिप्राय यह है कि परस्पर का व्यवहार दोनों के सम्बन्ध को घनिष्ठ रखने वाला हो, विच्छेद करने वाला न हो।' विवाह के दिन से ही दम्पती को यह विचार बना लेना चाहिए। फिर परस्पर कभी कोई आशंका-भय उपस्थित नहीं होंगे।

गृहस्थ को सुखी बनाने और रखने वाले ये दो सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विशेष बात यह है कि ये कर्त्तव्य दोनों के लिए हैं। किसी एक पर अर्थात् पति या पत्नी पर ही नहीं थोपे गये हैं।

यशोदा–गृहस्थ जीवन में सुख और शान्ति बनाये रखने के लिए पति-पत्नी को किन बातों का सम्मिलित रूप से पालन करना चाहिए ?

सुखदा–संस्कृत में एक कहावत प्रसिद्ध है–**'स्वभावो दुरतिक्रमः'** अर्थात् स्वभाव पर पार पाना कठिन कार्य है। यद्यपि समझदार के लिए स्वभाव पर नियन्त्रण करना असाध्य नहीं है किन्तु कठिन अवश्य है। इसीलिए वैदिक विवाह-व्यवस्था में विवाह के लिए गुण, कर्म, स्वभाव की अनुकूलता को परखना सब से प्रथम और आवश्यक कार्य कहा है। सृष्टि का यह नियम है कि प्रत्येक प्राणी में कुछ न कुछ आकृति और स्वभाव भिन्नता रहती ही है, अतः विवाह हो जाने के उपरान्त जरूरत पड़ती है सामञ्जस्य=तालमेल की। उस के ऊपर ही सुखी गृहस्थ का महल खड़ा हो सकता है। सामञ्जस्य के लिए दम्पती को इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

१. एक-दूसरे के स्वभाव को समझना–दो अपरिचित व्यक्तियों का मेल होने के बाद सब से पहला कर्त्तव्य यह है कि एक-दूसरे के स्वभाव को समझें। उस के अनुसार तालमेल करें और एक-दूसरे की सही भावनाओं का सम्मान करें। यदि किसी का स्वभाव ठीक नहीं है तो परस्पर विचार-विमर्श से उस में परिवर्तन लायें। स्वभाव न छोड़ने का हठ कोई न करे।

२. आपसी स्नेह और सम्मान–एक-दूसरे को स्नेह और सम्मान दें। किसी हीनता या न्यूनता के कारण अपमान न करें। घर

के प्रमुख कार्यों में आपसी सलाह लें और एक-दूसरे के दुःख में सहयोग-साथ दें और उस का निवारण करें। अभिमान-अहंकार और दुराग्रह, स्वर्ग जैसे गृहस्थ को भी बर्बाद कर देते हैं। इन से अवश्य बचें।

३. आपसी विश्वास—पति-पत्नी को एक-दूसरे पर पक्का विश्वास रखना चाहिए। विश्वास सुखी गृहस्थ की धुरी है। विश्वास खण्डित होने पर गृहस्थ जीवन भी खण्डित हो जाता है। कभी व्यर्थ शंका-सन्देह करके घर को नरक न बनायें। ऐसा करने से घर में किसी का प्रभाव नहीं बढ़ता अपितु प्रभाव घटता है। यदि कहीं विश्वास भंग हो जाता है तो उस मामले को बैठकर प्यार, विचार-विमर्श से निपटायें। मामला निपट जाने पर उस को बार-बार न कहें, न तानाजनी करें। किसी मामले को लेकर लड़ते रहने या तानाजनी करते रहने से कटाव और क्लेश ही बढ़ता जायेगा। जीवनभर वह सुख-शान्ति का वातावरण नहीं बनने देगा। समझदारी और शान्ति हठ में नहीं उदारता में है।

४. सहिष्णुता—भिन्न स्वभाव होने के कारण कभी न कभी, कहीं न कहीं वैचारिक और क्रियात्मक अन्तर आयेगा ही। कभी विरोध भी पैदा हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक-दूसरे के विरोध करने पर क्रोध या बल का प्रयोग न करें अपितु सहनशक्ति से काम लें। परिस्थिति विशेष के समय विरोध को सहन कर लें। बाद में एक-दूसरे को समझायें।

५. कार्य-सम्पादन—घर में पति-पत्नी के अपने-अपने कार्य निर्धारित होते हैं अथवा आपसी विचार-विमर्श, सहमति से कार्य निर्धारित कर लेते हैं। उन कार्यों को समय पर करें। न करने के लिए बहाना न बनायें। उस में टालमटोल न करें। एक-दूसरे के कार्य में कमी रहने पर उस पर कटाक्ष न करें अपितु समझाकर प्यार से उस कमी को दूर करें। अच्छा कार्य करने पर प्रशंसा करें।

६. सम्बन्धियों का सम्मान—पति-पत्नी को चाहिए कि वे घर में रहने वाले अथवा अतिथि के रूप में आने वाले एक-दूसरे के सम्बन्धियों से सम्मानपूर्ण बर्ताव करें। उन का अपमान न करें। उन से ईर्ष्या, द्वेष, उपेक्षा, कटुता का व्यवहार न करें। दम्पती को

यह याद रखना चाहिए कि जब वे कहीं जाते हैं तो वे दूसरों से अपने स्वागत की आशा करते हैं। इसी प्रकार दूसरे भी उन से ऐसी ही आशा रखते हैं।

सुखी गृहस्थ के लिए पत्नी के कर्त्तव्य

यशोदा–घर में सुख-शान्ति बनाये रखने के लिए पत्नी को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

सुखदा–गृहस्थ सम्बन्धी चर्चा में जो पत्नी के कर्त्तव्य बताये गये हैं वे सभी करने चाहिएं। उन से घर में सुख, शान्ति, उन्नति, एकता आदि विशेषताएं बनी रहती हैं। संक्षेप में कुछ पालनीय कर्त्तव्यों को इस प्रकार ध्यान में रखना चाहिए–

१. मधुरभाषण–पत्नी को मधुरभाषिणी, प्रियभाषिणी होना चाहिए, कटुभाषिणी होना पत्नी का प्रमुख अवगुण है। पति को घर आते-जाते मधुर वचनों से स्वागत व विदा करना चाहिए।

२. पतिव्रता–पत्नी का सब से बड़ा गुण अपने पति के प्रति सत्यनिष्ठ होकर प्रेमपूर्वक रहना है। परपुरुष से सम्बन्ध घर को नरक बना देता है।

३. लज्जा–स्त्रियों का लज्जा एक गुण है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि वह मुंह लटकाये बैठी रहे। इस का अभिप्राय यह है कि उसे स्वच्छन्द, चंचल, वाचाल और मर्यादाहीन नहीं होना चाहिए। मर्यादित व्यवहार रखना चाहिए।

४. विनम्रता और प्रसन्नता–पत्नी में विनम्रता का भाव प्रेम को बढ़ाता है। प्रसन्नता से घर में उल्लास का वातावरण बनता है। मुंह लटकाये या मुंह चढ़ाये रहने से घर श्मशान के समान बना रहता है।

५. आस्तिकता–पत्नी को ईश्वर-विश्वासी और ईश्वर उपासिका होना चाहिए। इस से घर में धार्मिकता आती है, बच्चे धार्मिक बनते हैं। धार्मिकता से मर्यादाएं सुदृढ़ होती हैं।

६. स्वच्छता सादगी–पत्नी को सदा स्वच्छ रहना चाहिए। वेशभूषा सादगीपूर्ण किन्तु आकर्षक हो। बहुत भड़काऊ वस्त्र और रहन-सहन श्रेयस्कर नहीं होता।

७. संयमी–पत्नी को संयम का जीवन बिताना दाम्पत्य जीवन

में प्रेम सम्बन्धों को घनिष्ठ और आकर्षण को चिरस्थायी बनाता है। दम्पती रोगों से ग्रस्त नहीं होते।

८. **सहिष्णुता**—पत्नी में सहनशक्ति या क्षमाभाव होना चाहिए। किसी बात पर तुरन्त प्रतिक्रिया करना या भड़क जाना अथवा तानाजनी करने से घर का वातावरण क्लेशमय बन जाता है।

९. **उदारता**—पति के खान-पान, रहन-सहन सम्बन्धी व्यवहारों में पत्नी को कंजूसी का बर्ताव न कर उदारता का प्रदर्शन करना चाहिए।

११. **सेवा-शुश्रूषा**—पति अथवा सास-ससुर आदि के रुग्ण अथवा अशक्त हो जाने पर प्रेम और श्रद्धा से उन की सेवा-संभाल करना पत्नी का प्रमुख दायित्व है। दु:ख में साथ न देने वाली पत्नी परिवार में सम्मान खो बैठती है। जो पत्नी इन कर्त्तव्यों का पालन करती है वह घर को सुखी बनाती है और घर की रानी बन जाती है।

दृष्टान्त—पत्नी के प्यार में कितनी महान् शक्ति होती है और वह अपने प्यार की शक्ति से किस प्रकार भटके हुए पति को सही मार्ग पर ला सकती है, इस का बहुत ही प्रभावशाली उदाहरण स्वामी श्रद्धानन्द की पत्नी का है।

संन्यास लेने से पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द का नाम मुंशीराम था। इनके पिता कोतवाल थे । अंग्रेजों के समय कोतवाल एक प्रभावशाली, समृद्ध और रौबदार अधिकारी होता था। सारा शहर उस की खुशामद में हाजिर रहता था। ऐसे अधिकारी का पुत्र होने के कारण मुंशीराम ठाठ-बाट का जीवन जी रहा था । उस समय समृद्ध घरों में बाल-विवाह की प्रथा थी। मुंशीराम का भी विवाह हो गया। इन की पत्नी १२-१३ वर्ष की थी, किन्तु थी समझदार और पतिव्रता।

कुछ बिगड़ैल दोस्तों की संगति में मुंशीराम शराब पीने लगे। एक दिन शराब के नशे में धुत्त होकर वेश्यालय में नाच-गान देखने चले गये। आधी रात बीत गयी। घर लौटे तो पत्नी राह देख रही थी। अधिक शराब पीने से मुंशीराम को सिर में दर्द हो रहा था और चक्कर आ रहे थे। घर आने पर उल्टी होने लगी। पत्नी ने डांट-फटकार न कर प्यार से मुंशीराम को संभाला। उल्टी बन्द होने

के बाद बिस्तर पर लेटा दिया और हाथ-पैर, सिर दबाने लगी। काफी देर बाद उन्हें सुध आयी। तब पत्नी ने कहा-'कुछ खाना खा लीजिये।'

'नहीं, खाने की इच्छा नहीं है। तुमने तो खाना खा ही लिया होगा ?' मुंशीराम ने पूछा।

'नहीं, आपके खाये बिना मैं कैसे खा सकती थी ?' पत्नी ने सहजभाव से उत्तर दिया।

बारह वर्ष की बालिका-वधू भूखी थी और रात के १-२ बजे तक शरीर को दबा रही थी। इस दृश्य को देखकर मुंशीराम का हृदय पसीज गया। उन्होंने पत्नी से क्षमा मांगी और वचन दिया कि भविष्य में कभी न तो शराब पीयेंगे और न गलत संगत में जायेंगे। उस के बाद उन की जीवनधारा ही बदल गयी। आगे चलकर वे महात्मा मुंशीराम और फिर स्वामी श्रद्धानन्द बने जिन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की और स्वतन्त्रता प्राप्ति में महान् योगदान दिया।

सुखी गृहस्थ के लिए पत्नी के अकर्त्तव्य

यशोदा-बहन, घर की सुख-शान्ति भंग न हो इस के लिए हम स्त्रियों को कौन सी बातें नहीं करनी चाहिएं ?

सुखदा-घर की सुख-शान्ति पत्नी के इर्द-गिर्द रहती है। वह वातावरण को बदलने में सक्षम है। उस में इतनी शक्ति-सामर्थ्य है कि वह मार्गभ्रष्ट पति को भी ठीक राह पर ला सकती है-प्रेम और समझदारीपूर्ण व्यवहार से। उस के अप्रिय आचरण से घर की सुख-शान्ति भी नष्ट हो सकती है। मनुस्मृति में, नारी को दूषित करने वाली या मार्गभ्रष्ट करने वाली निम्नलिखित छह बातें त्याज्य कही हैं-

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी सन्दूषणानि षट्॥

-मनु० ९।१३॥

अर्थात्-पानम्=नशा करने वाले पदार्थों का पान, दुर्जनसंसर्गः= दुष्ट-दुराचारी पुरुषों के साथ रहना, पत्या च विरहः=पति से अलग होकर रहना, अटनम्=इधर-उधर व्यर्थ घूमना, अन्यगेहवासः च

स्वप्नः=दूसरे के घर में निवास करना और शयन करना, षट् नारी सन्दूषणानि–ये छह बातें नारी को दूषित करने वाली या मार्गभ्रष्ट करने वाली हैं। अतः नारी को इन बातों से बचना चाहिए। इस के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें हैं जिन से परिवार के विघटन और शान्ति भंग की आशंका रहती है–

१. शक-सन्देह–पति पर व्यर्थ का शक करना अपने घर में आग लगाने के समान है। बिना निश्चय के कोई आरोप न लगाएं।

२. कलह–कलही स्वभाव, चिड़चिड़ी स्वभाव की पत्नी घर में सुखमय वातावरण नहीं रख पाती।

३. विलासिता–अत्यन्त विलासी, फिजूल खर्च करने वाली, दिखावे में विश्वास करने वाली स्त्री घर के वातावरण को दुःखमय बना देती है।

४. परपुरुषगमन–परपुरुषगमन जहां आत्मा की दृष्टि से पाप है वहां परिवार के विनाश का सब से बड़ा कारण है। यह प्रवृत्ति बच्चों तक को मिट्टी में मिला देती है।

५. ईर्ष्या-द्वेष–ईर्ष्यालु और द्वेषपूर्ण स्वभाव भी परिवार में अशान्ति पैदा करता है। ऐसी स्त्री निन्दालु होती है। वह अवसर पाते ही सब की निन्दा करती है।

६. चंचलता–चंचल, वाचाल और उच्छृंखल स्त्री घर की सुख-शान्ति की शत्रु है।

७. भेदभावपूर्ण–घर के सदस्यों में खान-पान, रहन-सहन में भेदभाव करने वाली पत्नी घर की एकता को भंग कर देती है। ऐसे स्वभाव की माताएं पुत्र-पुत्री में भी भेद करती हैं जिस के कारण वे अपनी सन्तानों में भी घृणा की पात्र बन जाती हैं।

परिजनों के साथ पत्नी का व्यवहार

यशोदा–परिवार में साथ रहते हुए पत्नी का व्यवहार दूसरे सदस्यों के साथ कैसा होना चाहिए?

सुखदा–संयुक्त परिवार सुख-सुविधा का बहुत बड़ा स्रोत है। आज की पढ़ी-लिखी स्त्रियां स्वच्छन्दता और स्वार्थ के वशीभूत होकर परिवार से अलग हो जाती हैं। फलस्वरूप उन्हें अधिक और लम्बे समय तक कष्ट उठाने पड़ते हैं। थोड़ा सा तालमेल यदि कर

लिया जाये तो संयुक्त परिवार रहन-सहन का बहुत लाभदायक तरीका है। यद्यपि संयुक्त परिवार में अनेक व्यक्तियों के साथ रहने से सभी की ओर से तालमेल, कर्त्तव्यपालन और मर्यादा-रक्षण किया जाना जरूरी है, तथापि यदि पत्नी अपने व्यवहार को ठीक रखे, धैर्य और समझदारी के साथ व्यवहार करे तो वह परिवार में तालमेल बनाये रखते हुए अपना प्रभाव भी कायम रख सकती है। संक्षेप में पत्नी का व्यवहार इस प्रकार होना चाहिए-

सास-ससुर-मायके से अपने माता-पिता से विदा होकर जाने के बाद पतिगृह में सास-ससुर ही पत्नी के माता-पिता हो जाते हैं। पत्नी को परायाभाव छोड़ कर उन का उसी प्रकार सम्मान करना चाहिए। उन की सेवा-संभाल करनी चाहिए। उन से मधुर भाषण और प्रिय व्यवहार करना चाहिए। कभी उन की ओर से अप्रिय व्यवहार हो तो उसे सहन करके बाद में विनम्रतापूर्वक परामर्श कर लेना चाहिए। सास-ससुर का भी कर्त्तव्य है कि वे बहू को पुत्री के समान स्नेह दें। बहू के साथ शत्रुवत् व्यवहार करने से उम्रभर की कटुता बन जाती है।

जेठ-देवर-बहू को जेठ से बड़े भाई के समान आदरपूर्ण व्यवहार और देवर से छोटे के समान स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। व्यर्थ का हंसी-मजाक, मर्यादाहीन बर्ताव नहीं करना चाहिए। जहां इन का खान-पान का ध्यान रखे वहीं अनावश्यक घनिष्ठता से भी बचे। इसी प्रकार जेठ और देवर का बर्ताव आदर तथा सहयोगपूर्ण होना चाहिए।

दृष्टान्त-रामायण से सम्बन्धित लक्ष्मण-सीता के व्यवहार का कथानक हमें यह शिक्षा देता है कि देवर का भाभी से कैसा पवित्र और आदरपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। उस प्रसंग को उठाकर कवि ने मानव मन की दोनों प्रकार की भावनाएं प्रदर्शित करके आदर्श व्यवहार का चित्रण किया है। राम को वनवास होने पर सीता और लक्ष्मण अकेले रहते थे। लक्ष्मण सीता की रक्षा करते थे। दोनों युवावस्था में थे। ऐसे समय युवाओं में कामभावना का आना स्वाभाविक माना जाता है। कवि उस स्थिति का चित्रण करते हुए बहुत ही सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करता है। राम के द्वारा लक्ष्मण पर व्यंग्य करवाते हुए कहता है-

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वां दृष्ट्वा च नवयौवनाम् ।
एकान्ते काञ्चनं दृष्ट्वा कस्य नो विचलेत् मनः ॥

'हे लक्ष्मण ! खिले हुए फूल-फल के सौन्दर्य को देखकर और एकान्त में नवयौवना (नवयुवती) तथा सोने को पड़ा देखकर, इस संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है जिस का मन उस को पाने के लिए विचलित न हो जाये ?'

लक्ष्मण समझ गये कि यह प्रश्न परोक्षरूप से मुझ पर व्यंग्य है और मेरी परीक्षा ली जा रही है। तब लक्ष्मण बहुत समयोचित आदर्श उत्तर देते हैं–

माता यस्य पतिव्रता पिता यस्य च धार्मिकः ।
एकान्ते यौवनं दृष्ट्वा तस्य नो विचलेत् मनः ॥

'हे भाई राम ! जिस की माता पतिव्रता हो और पिता धार्मिक हो ऐसे व्यक्ति का एकान्त में किसी नवयुवती को देखकर भी मन विचलित नहीं होता।' अभिप्राय यह है कि संस्कार माता-पिता से आते हैं। जिस के माता-पिता सदाचारी होते हैं उन की सन्तानें भी सदाचारी होती हैं। लक्ष्मण कितने सदाचारी और आदर्श देवर तथा छोटे भाई थे, इस का ज्ञान हमें सीताहरण के बाद होता है। मार्ग में गिरे पाये गये आभूषणों में से केशों तथा कानों के आभूषणों को पहचानने के लिए राम लक्ष्मण को कहते हैं। तब लक्ष्मण कैसा अद्भुत उत्तर देते हैं –

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

'हे भाई राम ! मैं केशों या बाजुओं के आभूषणों तथा कुण्डलों को नहीं पहचानता। हाँ, पायलों को अवश्य जानता हूँ क्योंकि मैं प्रतिदिन सीता के चरणस्पर्श करके उन का अभिवादन करता था।' कितना आदर्श चरित्र और व्यवहार था ? यही व्यवहार सब का होना चाहिए ।

जेठानी-देवरानी–जेठ और देवर के समान जेठानी से बड़ी बहन के समान आदरपूर्ण और देवरानी से छोटी बहन के समान स्नेहपूर्ण व्यवहार रखे। उन की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखे। कार्यों का बंटवारा करके सब अपने-अपने कर्त्तव्य का समय पर पालन करें। कष्ट में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोग

की भावना होनी चाहिए।

ननंद–ननंद को पराया व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। अविवाहित या विवाहित रूप से जब भी वह घर में आये या रहे, उस को स्नेह देना चाहिए। उसे अपनत्व की अनुभूति होनी चाहिए। उस की उपेक्षा करने सें जब ननंद का हृदय आहत होता है तो वह बदले की भावना से अपने भाई को बहका देती है। पहली समझदारी तो यह है कि ननंद-भाभी में इस प्रकार का दुराव ही नहीं आना चाहिए। यदि कभी आ भी जाये तो प्रेमपूर्ण परामर्श से उसे दूर कर लेना चाहिए।

बन्धु-बान्धव–इसी प्रकार पति के बन्धु-बान्धव अर्थात् रिश्ते-नातेदार जो आयें उन को भी सम्मान मिलना चाहिए। और उन का आतिथ्य ठीक ढंग से होना चाहिए। उन्हें घर में आकर अपनत्व की अनुभूति होनी चाहिए। पत्नी को यह याद रखना चाहिए कि विपत्ति के समय परिवार के सदस्य और बन्धु-बान्धव ही काम आते हैं। इसी प्रकार मंगलमय अवसरों पर बन्धु-बान्धवों से ही समारोह की शोभा बढ़ती है।

नौकर-नौकरानी–नौकर-नौकरानी काम करने के बदले पैसे लेते हैं। यह उन की नौकरी होती है। उन से हर समय डांट-डपट, मार-पीट, उपेक्षा का व्यवहार नहीं रखना चाहिए। वे आपकी सेवा-संभाल करते हैं। घर की सुरक्षा करते हैं। उन्हें परिवार के सदस्य के समान अपनत्व दें ताकि वे और अधिक काम करें। मानवीय दृष्टि से भी उन के साथ अच्छा बर्ताव करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। क्रूर या कठोर बर्ताव करने पर नौकर-नौकरानी हानिकर या घातक बन जाते हैं।

पुत्र-पुत्री- माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। उन का पालन-पोषण करते हुए उन्हें विद्या प्राप्त करा के स्वावलम्बी बनाना माता-पिता का परम कर्त्तव्य है। इसी प्रकार पुत्र-पुत्री का कर्त्तव्य है कि वे माता-पिता का आदर करें, उन की आज्ञा का उल्लंघन करके या उल्टा बोलकर अथवा गलत आचरण से उन के दिल को ठेस न पहुंचायें। माता-पिता अनेक कष्ट उठाकर सन्तान का पालन करते हैं। उन का इतना ऋण होता है कि उसे चुकाना सम्भव नहीं। वे पुत्र-पुत्री से आशा

रखते हैं कि वे कष्ट या वृद्धावस्था में उन का सहारा बनें। जो पुत्र-पुत्री माता-पिता की सेवा नहीं करते, फिर उन के पुत्र-पुत्री भी उन की सेवा नहीं करेंगे। परिवार में जैसा वातावरण होगा, सन्तानों में वैसे ही संस्कार बनेंगे। अतः माता-पिता की सेवा-संभाल करना सन्तान का परम कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार बच्चों को अपने बड़ों का प्रतिदिन सादर अभिवादन करना चाहिए। इस से बच्चों में श्रद्धाभाव, लगाव, आदरभाव की वृद्धि होती है। उन का व्यवहार विनम्र बनता है।

पुत्र-पुत्री (भाई-बहन) का परस्पर व्यवहार भी सौहार्दपूर्ण होना चाहिए। इसी प्रकार भाई-भाई और बहन-बहन का आपसी व्यवहार भी सौहार्दपूर्ण होना चाहिए। सहोदरों की तरह जीवन बिताना चाहिए, स्वार्थी पशुओं की तरह नहीं। यही मनुष्यता का लक्षण है।

पड़ोसी—पड़ोसी एक अच्छा मित्र भी होता है और कष्ट-दायक शत्रु भी। हमारा यह प्रयास होना चाहिए कि पड़ोसी से मित्रभाव स्थापित करें। थोड़ा कष्ट उठाकर भी यदि मित्रभाव बना रहता है तो वह लाभकर है क्योंकि दुःख-सुख में पड़ोसी बहुत काम आता है। किन्तु यदि पड़ोसी अच्छे व्यवहार और स्वभाव का नहीं है तो उस से शत्रुता उत्पन्न करने के बजाय उदासीन व्यवहार अपना लेना अधिक अच्छा है।

सुखी गृहस्थ की पहचान

यशोदा—क्या भारतीय परम्परा में सुखी या अच्छे गृहस्थ का कहीं वर्णन मिलता है? यदि हाँ तो वहां किन बातों को सुख का आधार माना गया है ?

सुखदा—भारतीय परम्परा में वेदों, स्मृतियों, नीतिग्रन्थों, साहित्यिक ग्रन्थों में कहीं स्वतन्त्र और कहीं प्रसंगानुसार सुखी गृहस्थ के लक्षण बताये गये हैं। धर्मशास्त्रों में तो गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विस्तृत वर्णन है। उन सब पर पूरा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यहां संक्षेप में सुखी परिवार की चर्चा की जा रही है। चाणक्य नीति में एक श्लोक के माध्यम से 'धन्य गृहस्थाश्रम' की पहचान इस प्रकार बतायी गयी है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

—चाणक्यनीति १२।१॥

अर्थात्—वह गृहस्थाश्रम धन्य=सौभाग्यवान् और प्रशंसनीय है जहां ये विशेषताएं हों—

१. सानन्दं सदनम्—जिस घर में सुख, आनन्द और उल्लास का वातावरण रहता हो। परिवार के सदस्यों के मुख पर प्रसन्नता, मुस्कान, निश्चिन्तता छायी रहती हो।

२. सुताश्च सुधियः—पुत्र-पुत्रियां उत्तम बुद्धियुक्त हों। जिस सन्तान की बुद्धि उत्तम होगी उस का जीवन भी उत्तम होगा और वह परिवार के लिए भी कल्याणकारी होगी; क्योंकि बुद्धि मनुष्य के जीवन का संचालन करती है। सन्तान का दुष्ट-बुद्धि हो जाना गृहस्थाश्रम का कुफल है और सुबुद्धि होना सुफल है।

३. कान्ता प्रियालापिनी—पत्नी मधुरभाषिणी हो । कटु, कठोर और कटाक्षभाषिणी साक्षात् नरक का रूप है जबकि मधुरभाषिणी स्वर्ग का रूप है। वैदिक परम्परा में सर्वत्र मधुर और प्रियभाषण का निर्देश है। कटुभाषण सब क्लेशों और अशान्ति का कारण है जबकि प्रियभाषण प्रेम और शान्ति का आधार है। पत्नी का प्रियभाषण महत्त्वपूर्ण गुण माना गया है।

विदुरनीति में महात्मा विदुर ने संसार के छह बड़े सुखों में एक सुख 'प्रियभाषिणी पत्नी' को माना है (१।८३)। वेद में भी स्पष्ट निर्देश दिया है—

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

—अथर्ववेद ३।३०।२॥

अर्थात्—पत्नी पति के प्रति मधु से सनी वाणी अर्थात् प्रिय-मधुर वाणी बोले, जो पति के हृदय में शान्ति देने वाली हो।

४. सन्मित्रम्—श्रेष्ठ मित्र हों। मित्रों की संगति का प्रभाव व्यक्ति पर शीघ्र पड़ता है क्योंकि मित्र के प्रति हार्दिक आकर्षण होता है। जैसा मित्र होगा वैसा ही व्यक्ति बन जायेगा। इस के

अतिरिक्त जो मित्र दुःख में सहभागी बनता है और स्वार्थ के बिना सहयोग करता है, वही श्रेष्ठ मित्र होता है। जिस को श्रेष्ठ मित्र मिल गया, समझो, खजाना मिल गया। जिस को बुरा मित्र मिल गया, समझो, बसा-बसाया घर उजड़ गया।

५. सुधनम्—श्रेष्ठ उपाय से, धर्म से कमाया गया धन हो। अधर्म से कमाया गया धन परिवार को कुमार्गगामी बना देता है। सुधन ही पुण्य के रूप में फलित होता है। बेईमानी, शोषण, ठगी, चोरी, डकैती, मिलावट, रिश्वत का धन दो नम्बर का या काला धन कहलाता है। उस से आदमी एक बार फलता-फूलता दिखायी पड़ता है किन्तु फिर उस का विनाश हो जाता है। ऐसा धन शान्तिकारक नहीं होता।

६. स्वयोषिति रतिः—केवल अपनी पत्नी से शारीरिक सम्बन्ध और प्रेमाकर्षण हो । परस्त्रीगमन जहां घर को बर्बाद करता है वहां रोगों का अभिशाप भी देता है। गृहस्थ में सच्चा सुख स्वस्त्री के प्रेम से ही रहता है।

७. आज्ञापराः सेवकाः—सेवक आज्ञापालक होने चाहिएं। जहां नौकर आज्ञापालक नहीं होते वहां गृहस्थ का समय-समय पर अपमान होता है। समय पर काम नहीं होते और काम असफल हो जाते हैं। ऐसे सेवकों से परिवार को सदा भय बना रहता है। इसलिए उत्तर देने वाले अर्थात् उल्टा बोलने वाले भृत्य को न रखने का निर्देश है।

८. आतिथ्यम्—घर में आने वाले अतिथियों की जहां सेवा होती हो, उन्हें सम्मान मिलता हो। गृहस्थों के लिए अतिथि को देवता के समान माना गया है और शास्त्रों में आदेश दिया है कि **"अतिथिदेवो भव ।"**=अतिथि को देव सदृश मानकर उस का सत्कार करो। विद्वान् और सदाचारी लोग देव कहलाते हैं। वही अतिथि होते हैं, अन्य नहीं। ऐसे लोग जब घर में आते रहेंगे तो उन के आचरण और उपदेशों से सन्तानों के सुसंस्कार बनेंगे, उन्हें उत्तम प्रेरणा मिलेगी। आचार्य चाणक्य ने अतिथियों से रहित घरों को श्मशान के तुल्य कहा है क्योंकि अतिथियों के आगमन से रहित घर कभी भी क्लेश और अशान्ति से व्याप्त हो सकता है। बुरे लोगों का अतिथि सत्कार नहीं करना चाहिए।

९. **शिवपूजनं प्रतिदिनम्**–शिव नाम है परमात्मा का। जहां प्रतिदिन परमात्मा की भक्ति-उपासना होती है। परमात्मा में सच्ची आस्था रखने वाला और प्रतिदिन उस की उपासना करने वाला परिवार न तो परस्पर कष्ट देगा, न अन्याय करेगा, न अपराधी बनेगा, न कोई हानि करेगा। परमात्मा में आस्था से सभी लोग सन्मार्गगामी बनेंगे।

१०. **मिष्टान्नपानं गृहे**–जिस घर में मधुर, सात्त्विक अन्न और पेय पदार्थ उपलब्ध रहें। इन पदार्थों का होना घर की खुशहाली का प्रतीक है। यह समझो कि उस घर पर ईश्वर की कृपा है। जहां अपवित्र अन्न और पेय आदि पदार्थों का सेवन किया जाता है उस परिवार का कल्याण नहीं होता।

११. **साधोः सङ्गमुपासते हि सततम्**–जिस परिवार में साधुओं=सज्जनों की संगति सदा की जाती है। जहां श्रेष्ठ जनों की निरन्तर संगति होती रहेगी उस घर में बुराइयां प्रवेश ही नहीं कर सकतीं। वह घर, उस घर की सन्तानें प्रत्येक दृष्टि से आदर्श बनेंगी। आचार्य भर्तृहरि ने तो संगति का माहात्म्य बतलाते हुए उसे सब सिद्धियों का मूल माना है–

"सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?"

–नीतिशतकम् २३॥

अर्थात्–श्रेष्ठ जनों की संगति में इतना बल है कि वह मनुष्यों की सब कामनाओं को पूर्ण कर सकती है।

ये ग्यारह विशेषताएं जिस घर में हों, उस को यह समझना चाहिए कि वह घर सुखी, समृद्ध एवं सफल है। वह धरती पर स्वर्ग है। वह आदर्श परिवार है।

शकुन्तला को दिया गया उपदेश

प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् भरत की माता शकुन्तला ऋषि कण्व की पुत्री थी। राजा दुष्यन्त से स्वयंवर विवाह होने के उपरान्त कण्व ने उसे ससुराल के लिए विदा किया। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक में, महाकवि कालिदास ने विदा होते समय ऋषि कण्व द्वारा दिये उपदेश का उल्लेख किया है। वह उपदेश विवाहित वधू के लिए गृहस्थाश्रम में पत्नी के कर्तव्यों का ज्ञान कराने वाला

साररूप वर्णन है। कालिदास उस उपदेश को इस एक श्लोक द्वारा प्रस्तुत करते हैं–

शश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

–अंक ४॥

अर्थात्–ससुराल में जाकर तुम इन बातों का पालन करना। जो पत्नियां इन बातों का पालन करती हैं वे 'गृहिणी' के सम्मान-जनक स्थान को प्राप्त करती हैं और जो इन का पालन नहीं करतीं वे उस घर में क्लेश या मानसिक रोग रूप सिद्ध होती हैं। वे बातें हैं–

१. गुरून् शुश्रूषस्व=ससुराल में सास-ससुर आदि बड़ों की सेवा-संभाल करना।

२. सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु=यदि पति की अन्य पत्नियां हों तो उन के साथ सहेली के समान मित्रता का व्यवहार करना। कालिदास के समय राजा कई-कई विवाह कर लेते थे, अतः उस स्थिति में वधू का क्या कर्त्तव्य है, इस का उल्लेख कालिदास ने किया है।

३. भर्तुर्विप्रकृता अपि रोषणतया प्रतीपं मा स्म गमः=पति के द्वारा कभी उपेक्षा किये जाने के कारण क्रोध में आकर उस के प्रतिकूल (उल्टा बोलना, बदले का व्यवहार करना, हठ करना, रुष्ट होना आदि) आचरण मत करना। ऐसी स्थिति में सहनशक्ति का प्रदर्शन करके, पति के शान्त होने पर उसे समझाना आर्थिक फलदायक और व्यावहारिक होता है।

४. परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव=सेवक-सेविकाओं के प्रति उदारता और दया का भाव रखना।

५. भाग्येषु अनुत्सेकिनी=सौभाग्य में अथवा धन-ऐश्वर्य की अधिकता में अभिमान न करना।

ऐसी पत्नी पति को प्रिय और अन्य सभी के सम्मान की पात्र बनती है।

दुखी गृहस्थ की पहचान

यशोदा–बहन, यह तो बहुत अच्छी पहचान बतायी है। वास्तव में जहां इतनी अच्छी बातें होंगी वह घर धन्य कहलायेगा ही। क्या निन्दनीय गृहस्थाश्रम का भी कहीं वर्णन आता है ?

सुखदा–हाँ, आता है। वैसे तो हमें इन्हीं बातों से अनुमान हो जाता है कि जहां ये विशेषताएं नहीं हैं, वह घर निन्दनीय है। चाणक्य ने निन्दनीय बातों की गणना नहीं की है। महाकवि माघ ने एक पद्य में कुछ बातों का उल्लेख अवश्य किया है। वे हैं–

क्रोशन्तः शिशवः सवारि सदनं पङ्कावृतं चाङ्गनम्,
शय्या दंशवती च रूक्षमशनं धूमेन पूर्णं गृहम्।
भार्या निष्ठुरभाषिणी प्रभुरपि क्रोधेन पूर्णः सदा,
स्नानं शीतलवारिणा हि सततं धिग्धिग् गृहस्थाश्रमः॥

अर्थात्–जहां ये बातें हों वह गृहस्थाश्रम धिक्कार के योग्य है अर्थात् निन्दनीय है–

१. **क्रोशन्तः शिशवः**–जहां बच्चे रोते-चिल्लाते रहते हों। इस का अभिप्राय यह है कि वहां मां-बाप अपने कर्त्तव्य के प्रति लापरवाह हैं। वे बच्चों की सेवा-संभाल नहीं करते। ऐसे वातावरण में संस्कारी बच्चों का निर्माण भी नहीं हो सकता।

२. **सवारि सदनम्**–जहां घर में इधर-उधर पानी बिखरा हुआ रहता हो या घर सीलन भरा हो। इस का अभिप्राय यह है कि उस घर में स्वच्छता नहीं है। वहां रोगों की आशंका बनी रहती है।

३. **पङ्कावृतं चाङ्गनम्**–जिस घर का आंगन कीचड़ से भरा हो। वहां गन्दगी का दृश्य होता है। जहां लीप-पोत कर साफ आंगन नहीं रखा जाता, ऐसा आंगन देखने में भी बुरा लगता है। इस से यह संकेत मिलता है कि उस दम्पती की सफाई-सुन्दरता में रुचि नहीं है।

४. **शय्या दंशवती**–जहां सोने का स्थान खटमलों, मच्छरों से भरा हो। उन के कारण सुखपूर्वक निद्रा ही नहीं आ सकती। इस का अभिप्राय यह है कि ऐसे दम्पती के रहन-सहन में फूहड़पन है।

५. रूक्षम्-अशनम्—जिस घर में रूखा-सूखा भोजन मिलता हो। घी-दूध आदि स्नेहयुक्त भोजन आयु, बल आदि का बढ़ाने वाला होता है। रूखा भोजन वातदोषों को उत्पन्न करता है। वह असमृद्धि तथा कृपणता का प्रतीक है। उस घर के बच्चे कुपोषण का शिकार होते हैं। सन्तुलित भोजन रोगरहित स्वास्थ्य का निर्माण करता है।

६. धूमेन पूर्णं गृहम्—जो घर धूएं से भरा रहता हो। ऐसे घर में शुद्ध वायु का गमनागमन नहीं होता। धूआं अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट देता है। विशेष रूप से आंखों की हानि करता है और श्वसन तन्त्र को रोगी बनाता है।

७. भार्या निष्ठुरभाषिणी—जहां पत्नी कटु-कठोर बोलने वाली हो। उत्तम पत्नी का लक्षण है—मधुरभाषण करना। जहां पत्नी कठोर वचन बोलती हो वह घर क्लेश और कष्ट का केन्द्र होता है। निष्ठुर बोलने वाली पत्नी परिवार के सभी सदस्यों के लिए कांटे के समान होती है। आचार्य चाणक्य ने तो अप्रियभाषिणी पत्नी वाले घर को अरण्य (जंगल) के समान कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

—चाणक्य नीति ४।५३॥

अर्थात्—जिस के घर में माता नहीं है या जिस घर में पत्नी अप्रिय बोलने वाली है, उस गृहस्थ को वन में चला जाना चाहिए; क्योंकि उस के लिए जैसा वन है वैसा ही वह घर है। उस घर में कोई आनन्द-उल्लास नहीं होता, वह वन के समान सूना है।

८. प्रभुरपि क्रोधेन पूर्णः सदा—जहां घर का स्वामी (पति) भी क्रोध से सदा भरा रहता हो। पत्नी अप्रियभाषिणी होगी तो पति का स्वभाव भी शान्त नहीं होगा। वह सदा क्रोध-चिड़चिड़ाहट में रहेगा। ऐसा घर न दम्पती के लिए, न बच्चों के लिए, न वृद्धों के लिए आकर्षक एवं शान्तिदायक होता है। वह तो घर के रूप में साक्षात् नरक होता है।

९. स्नानं शीतलवारिणा हि सततम्—जहां सर्दी और रुग्णता आदि में गरम जल की आवश्यकता पड़ने पर भी बलात् सदा शीतल जल से स्नान करना पड़ता हो। आयुर्वेद में ताजा ठंडा पानी

स्नान के लिए उत्तम माना गया है। वह पानी न शीतल होता है, न गरम। शीतल जल से स्नान करना कष्टप्रद होता है।

जहां ये नौ बातें हों वह घर सुखद नहीं है, अतः धिक्कार के योग्य है। सुखी गृहस्थ के लिए इन त्रुटियों को दूर करना आवश्यक है।

अभिवादन

यशोदा–बहन आपस में अभिवादन करते समय कोई 'राम-राम', 'श्याम-श्याम', 'सीताराम' 'जयहिन्द' बोलता है तो कोई 'गुड डे', 'गुड मोर्निंग' आदि। आपस में अभिवादन करते समय किस शब्द या वाक्य का प्रयोग करना चाहिए ? कौन-सा अधिक सार्थक है ?

सुखदा–देखिए, अभिवादन परस्पर सम्मान प्रकट करने के लिए होता है। मिलने पर या प्रातः सायं परस्पर अभिवादन करना सभ्यता की पहचान है। इस से जहां व्यक्तियों में नम्रता का संस्कार बनता है वहां साथ ही परिवार और समाज में परस्पर आदरभाव तथा भ्रातृभाव बढ़ता है।

समान स्तर के व्यक्तियों को परस्पर हाथ जोड़कर 'नमस्ते' वाक्य कहना चाहिए। इस का अर्थ है–"मैं, ते=आपका, नमः= आदर करता हूँ।" इस से अधिक सार्थक कोई शब्द या वाक्य नहीं है। बच्चों या छोटों को माता-पिता, गुरु आदि बड़ों को चरण-स्पर्शपूर्वक 'नमस्ते' या 'प्रणाम' कहना चाहिए। साधारणतः 'नमस्ते' का प्रयोग सभी छोटे-बड़े परस्पर कर सकते हैं। इस में छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है।

'राम' 'श्याम' आदि शब्दों का अभिवादन के समय न तो प्रसंग है और न कोई अर्थ। इसी प्रकार 'जय हिन्द' का भी कोई प्रसंग नहीं। वह देशभक्ति के अवसर पर सार्थक होता है। 'गुड डे', 'गुड मोर्निंग' आदि अंग्रेजी के वाक्यों में शुभकामना तो है, अभिवादन के समय का आदरभाव नहीं। अतः आदरप्रदर्शित करते समय शुभकामना प्रकट करना अवसर के अनुकूल नहीं। बुद्धिमानों का यह कर्तव्य बनता है कि वे देश-काल-समय के अनुकूल कार्य करें।

पत्र-लेखन आदि के अवसर पर भी 'नमस्ते' का ही प्रयोग

सब से अच्छा है। विश्व में परस्पर अभिवादन का 'नमस्ते' से बढ़कर अच्छा कोई प्रयोग नहीं है।

परदा-प्रथा

यशोदा—हम स्त्रियों को परदा (घूंघट) करना चाहिए या नहीं? इस से कोई हानि तो दिखायी नहीं पड़ती। कुछ लाभ ही दीखता है। वैसे भी यह पुरानी परम्परा है। अपनी परम्परा को बनाये रखना चाहिए।

सुखदा—स्त्रियों को परदा नहीं करना चाहिए। परदा-प्रथा न तो वैदिक प्रथा है और न प्राचीन है। यह प्रथा तो हमने मुसलमानों से ग्रहण की है। अपने प्राचीन इतिहास को पढ़ कर देख लीजिए, सीता, सावित्री, द्रौपदी, लक्ष्मी, पार्वती आदि कोई भी देवी परदा नहीं करती थी। इसलिए न तो यह हमारी परम्परा है और न प्राचीन है।

इस से लाभ कोई नहीं है, हानि ही हानि है। परदा-प्रथा पिछड़ेपन की निशानी तो है ही, महिलाओं को पिछड़ाने वाली अभिशापरूप प्रथा है। परदे में रहकर महिलाओं का बौद्धिक विकास सम्भव नहीं, वे किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकती हैं। न सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में आगे आ सकती हैं। इस के कारण नारी पिछड़ती रही है और पिछड़ती रहेगी। यदि उसे पुरुष के समान सभी क्षेत्रों में उन्नति करनी है तो उसे परदा जैसी कुप्रथा को नहीं अपनाना चाहिए। यूरोपीय देशों में कहीं परदा-प्रथा नहीं है। इस कारण वहां की महिलाएं सभी क्षेत्रों में उन्नत हैं और पुरुषों के समकक्ष कार्य करती हैं। इस से उन का समाज में महत्त्व भी है। भारत में परदा प्रथा लागू होने के बाद महिलाएं ज्यों-ज्यों पिछड़ती चली गयीं त्यों-त्यों उन की प्रतिष्ठा भी समाप्त होती गयी। इस युग में आकर उन्हें पुनः समान अधिकार और सम्मान मिला है। अतः उसे कोई ऐसी रूढ़िवादी प्रथा स्वीकार नहीं करनी चाहिए जिस से उस का पतन हो और सम्मान घटे।

कुछ लोग कहते हैं कि दुष्ट लोगों की बुरी दृष्टि से बचने के लिए परदा उपयोगी है। उन को यह ध्यान रखना चाहिए कि नारी का आत्मबल और पवित्र भाव ही उस को सुरक्षित रख सकता

है, अन्य बाहरी उपाय नहीं। अतः परदा जैसी कुप्रथाओं को छोड़कर नारी को संस्कार-दृढ़ बनाने का यत्न करना चाहिए।

भोजन कैसा हो ?

यशोदा–गृहस्थ आश्रम में भोजन कैसा ग्रहण करना चाहिए? और भोजन विषयक क्या सावधानियां बरतनी चाहिएं?

सुखदा–गृहस्थ आश्रम में बच्चों-बड़ों सभी को सन्तुलित और शाकाहारी भोजन लेना चाहिए। सन्तुलित भोजन से अभिप्राय है जिस आहार से शरीर के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्त्वों की पूर्ति हो जाये तथा जो पचकर रस में परिवर्तित हो जाये। बहुधा देखने में आता है कि लोग गरिष्ठ, पौष्टिक भोजन पर विशेष बल देते हैं और मौका मिलते ही पेट भरकर खाते हैं। यदि वह भोजन पचकर रस नहीं बनता तो वह शरीर में विजातीय द्रव्य उत्पन्न कर रोग का कारण बनता है।

गृहस्थ को कुछ स्निग्ध भोजन जैसे घी, पेय दूध, दही आदि का यथोचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि भोजन में विविधता होनी चाहिए ताकि विभिन्न पदार्थों से सभी पोषक तत्त्व शरीर को प्राप्त होते रहें। एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि जहां तक सम्भव हो, शारीरिक अनुकूलता को देखकर प्रतिदिन षड्रस भोजन करना चाहिए। इस का लाभ यह होता है कि एक रस से उत्पन्न होने वाले दोष को दूसरा रस शान्त करता है। निरन्तर एक रस का अधिक सेवन करने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, दूसरा रस उस से बचाव करता है। जैसे-अधिक मीठा खाने से मधुमेह (शुगर) होता है, यदि कटु या कषाय रस का सेवन किया जाये तो वह उस को नियन्त्रित करता है। आयुर्वेद के अनुसार छह रस हैं–मधुर, कटु, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल। मधुर रस के पदार्थ दूध, मिष्टान्न, मीठे फल आदि हैं। कटु, काली मिर्च, हरी मिर्च आदि हैं। लवण, खनिज लवण, सेंधा, काला नमक आदि हैं। तिक्त, नीम, चिरायता आदि। कषाय, आंवला, हरड़ आदि। अम्ल, नीम्बू, मौसमी, सन्तरा, दही, छाछ आदि।

किन्तु इस के साथ यह सावधानी रखनी चाहिए कि प्रयत्न करके सात्त्विक पदार्थों का भोजन में प्रयोग करे। राजसिक लाल

मिर्च आदि, तामसिक प्याज आदि का प्रयोग न करें। क्योंकि–

जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन।

मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उस का रस, रक्त, रज, वीर्य बनता है और उसी प्रकार का उस का मन और स्वभाव बनता जाता है। जैसे, मांस-मछली, लहसुन, मिर्च, चाय, काफी आदि राजसिक उष्ण पदार्थ खाने वाले लोग अधिक उत्तेजक स्वभाव के होते हैं, वे कलही हो जाते हैं। इसी प्रकार बासी भोजन प्याज आदि तामसिक पदार्थ ज्यादा खाने वाले आलसी-प्रमादी बन जाते हैं। उसी प्रकार उन का मन बन जाता है। जैसा भोजन करते हैं उसी प्रकार का रज, वीर्य आदि होने से सन्तान भी उसी स्वभाव की उत्पन्न होती है। अच्छे स्वभाव की सन्तान पाने के लिए जहां अच्छा व्यवहार जरूरी है, वहां सात्त्विक आहार भी जरूरी है। उपनिषदों में इसी बात की पुष्टि की है–

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा मतिः।'

–छान्दोग्य ७।२६।२॥

अर्थात्–'शुद्ध आहार से धातुएं शुद्ध बनती हैं और शुद्ध धातुओं से मेधा बुद्धि प्राप्त होती है।'

यशोदा–मांस से भी शरीर को पोषक तत्त्व मिलते हैं। विश्व में करोड़ों लोग मांस-मछली, अण्डे खाते हैं। सरकार भी इन को बढ़ावा देती है। आप मांसाहार का निषेध और शाकाहार का समर्थन क्यों कर रही हैं?

सुखदा–प्रत्येक पदार्थ में कोई, न, कोई गुण तो होता ही है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि हम दुनिया के प्रत्येक पदार्थ को खाने लगें। वह पदार्थ पवित्र, स्वच्छ, पापरहित है या नहीं, यह देखना भी आवश्यक है। अण्डे-मांस घृणित, रोगोत्पादक और पापयुक्त भोजन हैं, अतः त्याज्य हैं। कृत्रिम अण्डे भी अपवित्र भोजन हैं। जो पोषक तत्त्व आप इन से प्राप्त करना चाहते हैं वे शाकाहार में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मांस किसी प्राणी की हत्या करने से ही प्राप्त होता है। किसी प्राणी को अपने पेट भरने के लिए या जीभ के स्वाद के लिए मारना महापाप है।

यों तो कुछ न कुछ गुण मनुष्य के मांस में भी हैं। जो लोग मांसाहार का पक्ष लेते हैं या मांसाहार करते हैं, यदि उन का वध

करके कोई उन का मांस खाये तो उन्हें कैसा लगेगा? उसी प्रकार की पीड़ा मूक पशुओं को भी होती है। जब उन का वध करते हैं तो वे चीखते-चिल्लाते, रंभाते-रोते हैं। बचाव का भरसक प्रयास करते हैं किन्तु निर्दयी मनुष्य के सामने उन का वश नहीं चलता। इस प्रकार मांसाहार आत्मा के लिए पाप है। राजसिक और तामसिक भोजन होने के कारण शरीर, मन, स्वभाव के लिए भी हानिकारक है। मांसाहारी लोग अधिक हिंसक, निर्दयी और अधर्मी होते हैं। पाप से पेट भरने वाला कभी धार्मिक नहीं हो सकता। जीवहत्या इतना घृणित और क्रूर कर्म है कि यदि सब को स्वयं हत्या करके मांस खाना पड़े तो आधे से अधिक लोग मांस खाना छोड़ दें। कुछ लोग यह समझते हैं कि दूसरे के द्वारा काटा गया मांस लेने में पाप नहीं होता। पाप तो मारने वाले को ही लगता है। शास्त्रों में मांसाहार को घोर पाप माना है और उस से सम्बन्धित सभी लोग पाप के भागीदार माने हैं।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकाश्चेति घातकाः॥

—मनुस्मृति ४।४८, ५१॥

अर्थात्—'प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस की प्राप्ति नहीं होती और प्राणिवध करना स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति में बाधक है, इसलिए कोई मांस न खाये।'

'मांस की आज्ञा देने वाला, काटनेवाला, पशु को मारनेवाला, काटने के लिए पशुओं को खरीदने और बेचनेवाला, पकानेवाला, मांस परोसनेवाला और खानेवाला ये सब हिंसा के पाप के भागीदार हैं।' पाप का फल कष्ट और अगले जन्म में निम्न योनि की प्राप्ति है। इसलिए सुख प्राप्त करने के इच्छुक को यह पाप नहीं करना चाहिए।

मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है, यह प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भी लिखा है और आज के शरीर-वैज्ञानिकों ने भी मनुष्य की शारीरिक संरचना के आधार पर स्वीकार किया है। मनुष्य के दांत, आंत, पाचन संस्थान तथा पाचन की प्रक्रिया

मांसाहार के अनुकूल नहीं बनी है, जिस से यह सिद्ध होता है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है।

विश्व में भले ही यह पाप व्यापक स्तर पर फैला हुआ हो किन्तु फिर भी आज विश्व के मांसाहारी देशों के चिकित्सा-शास्त्री भी यह स्वीकारने लगे हैं कि मनुष्य को मांस नहीं खाना चाहिए। विश्व में डाक्टरों के अनेक सम्मेलन इस विषय का सन्देश देने के लिए भारत, अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में हो चुके हैं। उन का मानना है कि मांस अनेक रोगों का मूल कारण है। शाकाहार ही एकमत से पवित्र, रोगरहित और स्वभाविक भोजन है।

इसी प्रकार स्त्रियों को मदिरा, धूम्रपान आदि मदकारक पदार्थ भी नहीं लेने चाहिएं। यूरोप में हुई खोजों के अनुसार, किसी भी प्रकार का नशा करने वाली स्त्रियों की सन्तानें मस्तिष्क और शारीरिक दृष्टि से विकृत होती हैं। इस के अतिरिक्त, सन्तान नशे के संस्कार और प्रवृत्तियों को लेकर उत्पन्न होती है, जो परिवार के लिए कष्टदायक सिद्ध होती है। धूम्रपान को विश्व के सभी डॉक्टर एकमत से कैंसर, टी० बी०, यकृत् की व्याधियाँ आदि का कारण मानते हैं। अतः इस प्रकार के सभी पदार्थ त्याज्य हैं। महिलाओं को तो भूलकर भी इन का सेवन नहीं करना चाहिए।

सभी मदकारी=नशाकारी पदार्थों का एक स्वभाव है कि वे बुद्धि को नष्ट कर देते हैं, विचार शक्ति को नष्ट कर देते हैं। कहा है—

"बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ।"

अर्थात्—जो मदकारी पदार्थ हैं वे बुद्धि की विचारशक्ति को और बुद्धि को क्षीण करते हैं। बुद्धिशक्ति नष्ट होने पर मनुष्य जानवर बन जाता है। शराब के विनाशकारी प्रभाव को बतलाने वाले दो दृष्टान्त यहां दिये जा रहे हैं। उन से यह समझ में आ जायेगा कि शराब पापों और अपराधों की जड़ कैसे है। उस के पीने पर मनुष्य की बुद्धि और विवेकशक्ति कैसे नष्ट हो जाती है।

दृष्टान्त—एक दिन महाराज भोज ने अपने दरबारियों से पूछा कि विनाश की ओर बढ़ते व्यक्ति की क्या गति होती है ? कोई दरबारी उत्तर न दे सका। राजा ने कवि कालिदास से पूछा तो वे

भी मौन रहे और कहने लगे कि इस का उत्तर समय आने पर दिया जाएगा। महाराज भोज कभी-कभी नगर भ्रमण के लिए जाते थे। जिस मार्ग से भ्रमण के लिए जाते थे, उसी मार्ग से लौटते समय उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक संन्यासी खड़ा है। वह भिक्षा-पात्र लिये हुए है और उस में मांस के टुकड़े रखे हुए हैं। महाराज भोज को बहुत आश्चर्य हुआ कि वें यह क्या घृणित दृश्य देख रहे हैं। उन्होंने आश्चर्यचकित होकर संस्कृत में पूछा-**भिक्षो ! मांसनिषेवनं प्रकुरुषे ?**=अरे भिक्षुक ! तू संन्यासी होकर मांस का सेवन करता है ?

साधु ने उत्तर दिया-**किं तेन मद्यं विना ?** अर्थात् शराब पिये बिना मांस खाने का आनन्द ही क्या है महाराज! । उस पर चकित होकर महाराज ने पूछा-**मद्यं चापि तव प्रियम् ?** क्या शराब भी तुझे प्रिय है ?

उस साधु ने कहा-**"प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह"** केवल शराब ही मुझे प्रिय नहीं है, अपितु वेश्याओं के साथ शराब प्रिय है। महाराज भोज को बड़ा दुःख हुआ कि उन के राज्य में ऐसा भी संन्यासी रहता है जिसे मांस के साथ शराब और शराब के साथ वेश्यावृत्ति में भी रुचि है। वे और चकित होकर पूछने लगे-**"तासामर्थरुचौ कुतस्तव धनम् ?"** अरे वे वेश्याएं तो धन की इच्छुक होती हैं। तेरे पास धन नहीं है, तू तो भिक्षुक ठहरा। धन कहां से लाता है ?

तब साधु ने उत्तर दिया कि-**"द्यूतेन चौर्येण वा"**=मैं पैसा जुआ खेलकर और चोरी करके प्राप्त कर लेता हूँ। इस पर महाराज भोज पूछने लगे-**"चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः"**=क्या तुझे चोरी और जूआ भी प्रिय हैं ?

इस पर साधु ने कहा-**"नष्टस्य कान्या गतिः"**=जो मनुष्य विनाश की ओर जाने लगा हो, उस की अन्य गति क्या होती है ? उस की यही गति होगी कि वह पापों में धंसता चला जाएगा। गिरावट की ओर बढ़ता चला जाएगा। राजा भोज समझ गये कि यह कालिदास है। उस ने स्पष्ट कर दिया कि शराबी में सभी बुराइयाँ आ जाती हैं। इसलिए शराब का रास्ता विनाश का रास्ता है। शराब ही नहीं, सभी नशे पतन की ओर ले जाते हैं।

इसी प्रकार शराब के परिणामों पर प्रकाश डालने वाला एक और दृष्टान्त है। एक बहुत सुन्दर बाग था। अनेक प्रकार के वृक्ष फलों से लदे हुए थे। फूलों की महक उठ रही थी। उस में अनेक दर्शनीय स्थान बने हुए थे। अनेक यात्री वहां दूर-दूर से दर्शनार्थ आते किन्तु निराश होकर लौट जाते थे। कारण यह था कि उस के प्रवेश के लिए चार शर्त-द्वार बने हुए थे। उन द्वारों से गुजरे बिना दर्शक अन्दर नहीं जा सकता था, प्रत्येक द्वार से प्रविष्ट होने के पृथक्-पृथक् नियम थे। एक बार सीधा-साधा यात्री आया। दर्शन की इच्छा से बाग के पहले द्वार पर पहुंचा, द्वारपाल से प्रवेशार्थ आज्ञा मांगी। द्वारपाल ने कहा—इस द्वार पर जुवारियों का अधिकार है। आपको उन के साथ जूआ खेलना पड़ेगा, यदि आप जूए में जीत गये तो आप अन्दर जा सकते हैं। यात्री ने सोचा जूआ खेलना तो पाप है। वेद भगवान् की भी यही आज्ञा है कि **"अक्षैर्मा दीव्यः"**=जूआ खेल भी लूं तो इन अभ्यस्त जुआरियों से कैसे जीत सकूंगा। पाप भी करूं, पैसा भी खोऊं तो भी बाग में प्रवेश न कर सकूं। ऐसा करने से क्या लाभ?

विवश हो दूसरे द्वार पर पहुंचा। इस द्वार का यह नियम था कि मांस-भक्षण बिना कोई नहीं जा सकता था, यात्री ने विचार किया कि मांस पशु हिंसा के बिना नहीं मिलता। **''पशून् मा हिंसीः''**='पशुओं को मत मारो' यह वेद की आज्ञा है। अतः मांस-भक्षण महापाप है। यह विचार कर तीसरे द्वार पर पहुंचा।

तीसरे द्वार का यह नियम था कि वेश्यागमन के बिना अन्दर नहीं जा सकता था। उस ने सोचा वेश्यागमन तो महापाप है, हमारे शास्त्र तो यहां तक कहते हैं, **''मातृवत् परदारेषु''**=पराई स्त्री को अपनी मां-बहन के समान समझो।

अतः विवश हो चौथे द्वार पर पहुंचा, वहां शराब रखी थी और शराब पीकर ही अन्दर जाने का नियम था। सोचा **"वर्जयेन्मधुमांस च"**=शास्त्रों की आज्ञा है शराब न पीओ, मांस न खाओ। करूं तो क्या करूं? पाप किये बिना तो अन्दर नहीं जा सकता। मांस मैंने कभी खाया नहीं, कैसे खाऊं? इस के देखने मात्र से ही वमन आती है। जूए में मेरी जीत असम्भव है। वेश्या-गमन के नाम से ही दिल में घृणा होती है, लोक और परलोक दोनों

बिगड़ते हैं। ऐसा भयंकर पाप करके संसार में रहने को कोई स्थान दिखाई नहीं देता। अपदंश (आतशक), मूत्रकृच्छ्र (सोजाक) रोग हो जाये तो बेटों, पोतों तथा कई पीढ़ियों तक पीछा नहीं छोड़ते। अब क्या करूं? क्या लौट जाऊं? चिरकाल से इस सुन्दर बाग को देखने की इच्छा थी। कितनी लम्बी यात्रा करके बड़े-बड़े आवश्यक कार्य छोड़कर आया था। अब क्या निराश होकर लौट जाऊं। खाली जाना तो अच्छा नहीं। लोग हंसी उड़ाएंगे। यात्रा का इतना परिणाम भी व्यर्थ जायेगा।

उस ने सोचा–है तो पाप, थोड़ी-सी शराब ही पी लेता हूँ। शराब पीने से कम हानि होगी। अब तो बाग देखकर ही जाऊंगा। क्या है, थोड़ा-सा नशा ही तो होगा। अन्न, गुड़, फलों के रस से ही तो बनती है। यह तो प्रतिदिन खाते ही हैं। क्या बिगड़ता है, जो एक प्याली पी ही ली। बाग तो देख ही लूंगा। आंख बन्द करके झट एक प्याली चढ़ा गया।

शराब का पीना था कि नशे ने उसे आ घेरा। फिर और पीने को मन हुआ, इतनी पी कि नशे में बुद्धि ठिकाने न रही। बाग के अन्दर बाहर जाकर घूमने लगा। घूमते-घूमते पहले द्वार पर आ गया। जूआ खेलने वालों ने मीठी-मीठी बातें कर उसे फंसा लिया। गांठ के सब पैसे दाव पर लगा दिये, हार गया। जुआरियों ने धक्के मारे। गिरता-पड़ता दूसरे द्वार पर पहुंचा। वहां अनेक प्रकार के मसाले डालकर मांस पकाकर थालियों में परोसा हुआ था, द्वारपाल ने प्रशंसा के राग अलापे "खाओ तो सही, बड़ा स्वादिष्ठ भोजन है। खूब पेट भरकर के खाओ। वह खूब नशे में चूर था, झट भोजन करने बैठ गया। खूब पेट भर खाया। अब दोनों बहिन-भाई (शराब-मांस) इकट्ठे हो गए। नशे का रंग खूब चढ़ा। खाने के कारण वमन हो गई। फिर घूमता-घूमता तीसरे द्वार पर आ गया। वेश्याओं को देखकर वासनाएं भड़कीं, काम का भूत सवार हुआ। वह महापाप भी कर डाला। इस प्रकार शराब ने सारे ही पाप करा के जीवन को बर्बादी के रास्ते पर ला खड़ा किया तभी तो कहा है–"शराब अन्दर तो अक्ल बाहर।"

संसार में दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हत्याओं, अपहरणों, बलात्कार आदि क्रूरतम अपराधों में शराब आदि मादक पदार्थों का

प्रमुख हाथ है। शराब, स्मैक, हेरोईन, चरस, गांजा, अफीम आदि का शिकार मानव इन्हें प्राप्त करने के लिए हर प्रकार का दुष्कर्म करने को तैयार हो जाता है, क्योंकि इन पदार्थों के सेवन से मनुष्य की विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसे अच्छे-बुरे का ज्ञान ही नहीं रह पाता। अतः इन का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए।

भोजन के नियम

यशोदा–भोजन के सम्बन्ध में गृहस्थों को अन्य किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ? आयुर्वेद की दृष्टि से भोजन के क्या नियम हैं?

सुखदा–आयुर्वेद में कई प्रकार से भोजन सम्बन्धी नियम बताये हैं। जैसे भोजन के विषय में व्यक्ति को इन नियमों का ध्यान रखना चाहिए–

१. **मितभुक्**–भोजन पेट भरकर नहीं करना चाहिए। थोड़ी भूख रखकर भोजन करना चाहिए। अल्पाहारी दीर्घ आयु वाला होता है और नीरोग रहता है।

२. **हितभुक्**–प्रकृति के अनुसार हितकर भोजन ही करना चाहिए। जैसे पित्त प्रकृति वाले को पित्तज भोजन अहितकर है, अतः वह नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार वात प्रकृति वाले को वातज पदार्थ तथा कफ प्रकृति वाले को कफज पदार्थ नहीं खाने चाहिएं।

३. **ऋतभुक्**–पवित्र, स्वच्छ और धर्मयुक्त भोजन करना चाहिए। हिंसा आदि से प्राप्त मांस, लूट आदि से प्राप्त भोजन नहीं खाना चाहिए।

इसी प्रकार एक नियम यह है कि ऐसा भोजन न करें–

१. **अनशन**–भूख लगने पर बिना खाये रहना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

२. **अत्यशन**–पेट भरकर या ठूंसकर खाना रोगोत्पादक और बुद्धिनाशक होता है।

३. **अध्यशन**–खाये हुए पर बिना पचे बार-बार खाना भी रोगोत्पादक होता है।

४. **विरुद्धाशन**–विरुद्ध भोजन भयंकर रोगों को जन्म देता

है। जैसे–**नमकीन भोजन के साथ दूध, खट्टे भोजन के साथ दूध, दही के साथ दूध, खीर और दही एक साथ खाना, समान मात्रा में घी और मधु लेना आदि।**

इसी प्रकार एक अन्य कथन यह है कि भोजन निर्धारित समय पर करना चाहिए। ऋतु–अनुकूल हो। आयु–बल के अनुसार हो और प्रकृति के अनुकूल हो। ऐसे भोजन से व्यक्ति स्वस्थ रहता है। महिलाओं का यह कर्त्तव्य बनता है कि वे इन बातों की जानकारी प्राप्त करें और उपयुक्त भोजन बनायें-बनवायें, खायें–खिलायें।

यशोदा–गृहस्थ को परिवार के पालन के लिए नौकरी, व्यापार या कोई व्यवसाय करना पड़ता है। क्या कोई भी व्यवसाय किया जा सकता है ? अथवा इस के भी कुछ नियम हैं?

सुखदा–हाँ, इस के भी नियम हैं। गृहस्थ को ऐसा रोजगार अपनाना चाहिए जिस से दूसरे प्राणियों को पीड़ा न हो, द्वेषभावयुक्त व्यवसाय न हो। किसी भी निन्दित उपाय से अथवा व्यक्ति और समाज को हानि पहुंचाने वाले उपाय से धन संचय करना अधर्म है। कुटिलता, धूर्तता, छल–कपट, झूठ से जीविका करना भी अधर्म है। धर्मपूर्वक सन्तोष की भावना रखते हुए जीविका करने से परिणाम में सुख मिलता है। अधर्म से कमाया हुआ धन एक बार बढ़ता प्रतीत होता है, आदमी फलता–फूलता दिखाई पड़ता है किन्तु परिणाम में वह धन परिवार को इस प्रकार जड़ से विनष्ट कर देता है जैसे तूफान किसी पेड़ को जड़सहित उखाड़ देता है। वह आदमी और परिवार को विपत्तियों में डाल देता है।

अधर्म का बुरा फल अवश्य मिलता है, चाहे वह इसी जन्म में मिले अथवा परजन्म में; चाहे स्वयं को मिले अथवा इस धन को भोगने में साझीदार पुत्र–पौत्रों के माध्यम से। वह फल न तो टलता है, न कोई और भोगता है। इसलिए धर्मपूर्वक जीवन जीना और कमाना ही सुख–प्राप्ति का मार्ग है।

यशोदा–बहन, आपने गृहस्थ सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातें बताकर हमारी आंखें खोल दीं। अभी तक इतनी स्पष्ट और सही जानकारी कहीं प्राप्त नहीं हुई थी। आपका बहुत–बहुत धन्यवाद

है। कल से अन्य धार्मिक विषयों पर जानकारी प्राप्त करूंगी। आज चलती हूँ। नमस्ते, बहन!

सुखदा—नमस्ते।

चौथा दिन

ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप

यशोदा—बहन सुखदा नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते बहन! आइये, बैठिये।

यशोदा—कल जब मैं घर लौटी तो परिवार के सभी सदस्यों ने मुझ से पूछा कि तुम सुखदा जी के पास बहुत-बहुत देर तक बैठ कर आती हो, क्या तुम्हें उन की बातों में कुछ सार अनुभव हुआ है और क्या वे तुम्हें समझ भी आ रही हैं ?

सुखदा—यह तो अच्छी बात है कि उन्होंने आपको जिस प्रयोजन के लिए अवकाश और अनुमति दी है उस के बारे में वे जानकारी प्राप्त करें कि आप को उस से कुछ लाभ हो रहा है या बेकार समय जा रहा है। हां, तो फिर आप ने क्या उत्तर दिया ?

यशोदा—मैंने कहा कि जितनी सरल भाषा और शैली में बहन सुखदा मुझे धार्मिक विषयों को समझा रही हैं, आज तक मैंने किसी को समझाते-सुनाते नहीं देखा। वे सभी बातें मेरी बुद्धि में उपस्थित हो जाती हैं। मैंने कहा कि सुखदा जी की बातों से मेरी सारी शंकाएँ निर्मूल हो रही हैं और मेरी विचारधारा तथा जीवनधारा ही बदलती जा रही है। फिर वे आग्रह करने लगे कि अब तक की बातों को हमें सार रूप में समझाओ।

सुखदा—फिर तुमने क्या कहा ?

यशोदा—मैंने कहा कि यदि आप लोगों में जिज्ञासा-भावना है तो ठीक है, मैं शाम को भोजन आदि से निवृत्त होकर इकट्ठे बैठकर बताऊंगी।

सुखदा—आप ने उन को वे बातें बतायीं ?

यशोदा—हां, सार रूप में सभी बातें समझायीं। सभी परिजन सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि इतनी तर्क और प्रमाण सहित बातें केवल वैदिक विदुषी ही कर सकती है। वे आपसे

बहुत प्रभावित हुए बहन!

सुखदा–इस के लिए उन को मेरी ओर से धन्यवाद कहिये। वे जब इन बातों को आचरण में लायेंगे तो निश्चय ही उन का जीवन और परिवार का वातावरण पवित्र तथा सुखी होगा। मुझे भी इस से सन्तुष्टि होगी।

क्या ईश्वर है?

यशोदा–बहन, आज का विषय सब से अधिक विवादपूर्ण और जटिल है। प्राचीन काल से ईश्वर के विषय में दो मत रहे हैं। कुछ कहते हैं ईश्वर है, कुछ कहते हैं ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर को मानने वाले आस्तिक कहलाते रहे हैं, न मानने वाले नास्तिक। बड़े-बड़े दार्शनिक, चिन्तक, विद्वान् दोनों पक्षों में रहे हैं। समझ में नहीं आता कि ईश्वर है या नहीं? उसे मानना चाहिये या नहीं? आज आप इस जटिल विषय को समझाइये।

सुखदा–बहन, आपकी शंकाएं और बातें सही हैं। ईश्वर विषय को लेकर बहुत वाद-विवाद होता रहा है, किन्तु मैं तो आस्तिक और नास्तिक सभी विचारधाराओं को पढ़ने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंची हूँ कि ईश्वर अवश्य है।

यशोदा–फिर वह दिखायी क्यों नहीं देता?

सुखदा–आंख आदि स्थूल इन्द्रियों की देखने की अपनी सीमा होती है। वे वहीं तक देख सकती हैं। जैसे वायु, सुगन्ध, गैस, परमाणु हैं, किन्तु उन्हें आंखें देख नहीं सकतीं। सूक्ष्म प्राकृतिक वस्तुओं को देखने के लिए हम सूक्ष्मदर्शी यन्त्र आदि की सहायता लेते हैं। बहुत सूक्ष्म वस्तुएं उन से भी नहीं दिखायी पड़तीं। परमात्मा तो परम सूक्ष्म है, अतः वह बाह्य इन्द्रियों से देखने योग्य है ही नहीं।

यशोदा–परमात्मा है, इस सत्य को कैसे जाना जा सकता है? उस की सिद्धि आप किस प्रकार करेंगी? प्रयोगशाला में तो वह सिद्ध होता नहीं। इसलिए वैज्ञानिक भी उस को नहीं मानते।

सुखदा–देखिये, मैंने अभी आपको बताया था कि स्थूल इन्द्रियों और साधनों की अपनी एक सीमा होती है। प्रयोगशाला के यन्त्रों की कुछ वर्ष पहले तक थोड़ी सीमा थी, तब वे कुछ सूक्ष्म पदार्थों को देख पाते थे। आज उन के यन्त्र और शक्तिशाली और

सूक्ष्मदर्शी हो गये हैं, अतः वे और अधिक सूक्ष्म पदार्थों को देखने में सफल हुए हैं। आगे और सफलता की सम्भावना है। **वैज्ञानिक लोग यह नहीं कहते कि 'हम ईश्वर को नहीं मानते'। वे तो यह कहते हैं कि जो प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं होता हम उस को वैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकार नहीं कर सकते। प्रयोगशाला में तो आजतक वायु, सुगन्ध, शब्द को भी नहीं देख सके हैं। क्या कोई वैज्ञानिक यह कह सकता है कि ये नहीं हैं? इन को जानने या अनुभव करने का उपाय भिन्न है। वायु का स्पर्श से, सुगन्ध का नासिका से, शब्द का कान से ज्ञान होता है।** इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान का उपाय भी भिन्न है।

यशोदा—वह क्या है ?

सुखदा—उस के ज्ञान के लिए हमारे दार्शनिक ऋषि-मुनियों ने लक्षण और प्रत्यक्ष प्रमाण आदि उपाय बतलाये हैं। कहा है—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ।

अर्थात्—लक्षणों और प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

यशोदा—ये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण क्या हैं और इन से परमात्मा का ज्ञान कैसे होता है ?

सुखदा—लक्षण अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को बतलाने वाले गुणों की चर्चा बाद में की जायेगी, पहले प्रमाणों की जानकारी दी जाती है। मुख्य प्रमाण चार हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द। इन की परिभाषा को सरल शब्दों में समझाती हूँ और इन से ईश्वर की सिद्धि कैसे होती है, यह भी बताती हूँ। 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ —न्यायदर्शन १।१।४॥

अर्थात्—(इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष-उत्पन्नम् ज्ञानम्) आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, इन्द्रियों का अपने विषयरूप, गन्ध, शब्द, रस, स्पर्श के साथ उत्पन्न ज्ञान, (अव्यपदेश्यम्) जो कि निर्बाध है, (अव्यभिचारि) जो अविनाशी अर्थात् स्थिर है, (व्यवसायात्मकम्) जो निश्चयात्मक अर्थात् सन्देहरहित है, वह (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्रमाण युक्त ज्ञान कहलाता है।

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संयोग होने से उन-उन गुणों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है, गुणी पृथ्वी आदि का नहीं होता। गुणी पृथ्वी आदि का और सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मायुक्त मन से होता है। इस सृष्टिरचना का प्रत्यक्ष आंख आदि स्थूल इन्द्रियों से होता है। किन्तु इस के रचयिता का प्रत्यक्ष आत्मा में होता है जैसे आंख आदि में धूल पड़ने से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता । उसी प्रकार राग-द्वेष आदि से मलीन आत्मा में भी परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे स्वच्छदर्पण में ही आकृति दीखती है वैसे ही शुद्ध सत्त्वगुण युक्त जीवात्मा में ही परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यह निश्चित है कि इस अनन्त सृष्टि का निर्माता अनन्त सामर्थ्य वाला और सर्वव्यापक ईश्वर ही हो सकता है। मानव सहित कोई भी प्राणी अनन्त सृष्टि की रचना नहीं कर सकता।ईश्वर के होने का प्रमाण हमें व्यवहार में भी मिलता है।

यशोदा–वह कौन सा प्रमाण है ?

सुखदा–बहन, सच-सच बताओ कि जब कभी आपका चोरी, झूठ आदि बुराई करने का मन करता है तो क्या हृदय में भय, शंका, लज्जा के भाव उत्पन्न नहीं होते ?

यशोदा–हां, होते तो हैं।

सुखदा–और जब परोपकार, दान, दया, सहयोग आदि अच्छे कर्म करने का मन करता है तो हृदय में उत्साह, प्रसन्नता, अभय आदि के भाव उत्पन्न होते हैं ?

यशोदा–हां, होते हैं।

सुखदा–ये सब प्रेरणाएं आत्मा में परमात्मा की ओर से होती हैं। दयालु परमात्मा हमें बुरे कामों से रोकता है और अच्छे कामों में उत्साहित करता है। इस प्रकार वह अन्तर्यामी होता हुआ हमें प्रेरणा देता है। इस से ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि होती है। यह जो प्रेरिका शक्ति है, वही ईश्वर है।

यशोदा–बहन, यह तो आपने बहुत ही सरल तरीके से ईश्वर की सत्ता की जानकारी दी है। प्रतिदिन उन भावों को अनुभव करते हुए भी हम तो इस बात का निश्चय नहीं कर पाते। यह तो समझ में आ गया, अब अनुमान प्रमाण के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व

के बारे में बताइये।

सुखदा–अनुमान का अर्थ होता है किसी वस्तु या ज्ञान का प्रत्यक्ष होने के बाद अदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष का ज्ञान करना। इसकी परिभाषा है–

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम्-अनुमानम् ॥ –न्यायदर्शन १।१।५॥

अर्थात्–(तत्पूर्वकम्) उस प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार अर्थात् उस के अभाव में उस के पीछे जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है और वह तीन प्रकार का होता है।

जैसे किसी सन्तान को देखकर उस के माता-पिता का ज्ञान अनुमान से होता है, उसी प्रकार अनन्त सृष्टि को देखकर कोई इस का रचयिता है, यह ज्ञान होना अनुमान है। वह रचयिता अनन्त सामर्थ्य वाला ही हो सकता है, वही ईश्वर है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य सुख ही चाहता है, दुःख कोई नहीं चाहता। फिर भी सब को सुख-दुःख अनिवार्य रूप से मिल रहे हैं। इस से अनुमान होता है कि कोई व्यवस्थापक शक्ति है जो न चाहते हुए भी कर्मफल के अनुसार मनुष्यों को फल दे रही है। वही शक्ति ईश्वर है।

यशोदा–क्या उपमान प्रमाण से भी ईश्वर का ज्ञान होता है?

सुखदा–उपमान से अभिप्राय है किसी पदार्थ की तुलना से अन्य पदार्थ के गुणों-कार्यों का ज्ञान करना। उपमान प्रमाण से ईश्वर के स्वरूप और गुणों का ज्ञान होता है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप है और दूसरों को भी प्रकाश देने वाला है, उसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान प्रकाशक है। जैसे आकाश व्यापक है, उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापक है आदि।

यशोदा–शब्द प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि किस प्रकार होती है ? और इस का लक्षण क्या है ?

सुखदा–शब्द प्रमाण की परिभाषा है–

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ –न्यायदर्शन १।१।७॥

अर्थात्–आप्तों के जो वचन हैं, वे शब्दप्रमाण हैं। पवित्रात्मा, परोपकारी, सत्यवादी, विद्यापारंगत जन 'आप्त' कहाते हैं। उन के द्वारा कहे-लिखे वचन 'शब्दप्रमाण' के अन्तर्गत आते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने आत्मा में परमात्मा का साक्षात् करके उस के स्वरूप का उपदेश दिया है, अतः वह प्रमाण रूप में मान्य है। जैसे

आज विज्ञान के विद्यार्थी सभी सिद्धान्तों और वस्तुओं का स्वयं प्रत्यक्ष नहीं करते किन्तु वैज्ञानिकों ने परीक्षा-प्रमाणपूर्वक जो कह दिया है, उसी आधार पर उसे प्रमाण मानकर स्वीकार करते हैं। जैसे गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त, आकाशीय ग्रहों-उपग्रहों की दूरी, सूक्ष्म किरणें, गैसें, पृथ्वी, समुद्र आदि का माप-तोल आदि। इसी प्रकार उपनिषत्कार ऋषि ईश्वर-साक्षात्कार के बाद कहता है-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

-मुण्डक उपनिषद् ३।१।५॥

अर्थात्-(एष आत्मा) यह परमात्मा (शरीरे अन्तः) शरीर के भीतर अन्तःकरण में (शुभ्रः ज्योतिर्मयः) पवित्र, उज्ज्वल प्रकाश रूप में विद्यमान है। इस को सदा सत्याचरण से, तपःसाधना से, यथार्थ ज्ञान से और जितेन्द्रियता से प्राप्त किया जाता है और राग-द्वेष, अविद्या, अज्ञान आदि दोषों को नष्ट कर देने वाले साधकजन उस को आत्मा में प्रत्यक्ष करते हैं।

आप्तों का आप्तपुरुष परमात्मा है। उस ने वेदों में मनुष्यों के लिए जो उपदेश दिया है वह सर्वोच्च आप्तवचन है, अतः वह सब से प्रामाणिक शब्दप्रमाण है। वेदों में ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप और गुणों का वर्णन हजारों मन्त्रों में है। यहां केवल एक ही मन्त्र शब्दप्रमाण के रूप में लिखा जा रहा है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

-यजुर्वेद ४०।१॥

अर्थात्-'इस संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन रूप जगत् है, उस सब में ईश्वर व्याप्त होकर उस का नियन्त्रण भी कर रहा है। इसलिए ईश्वरोक्त धर्म के अनुसार इस संसार में धन-ऐश्वर्य का उपभोग करो। अधर्म से किसी अन्य के धन की इच्छा मत करो।' वेदों में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले ऐसे सैकड़ों प्रमाण हैं। इस प्रकार उक्त चारों प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।

यशोदा—बहन, मुझे यह तो निश्चय हो गया है कि ईश्वर नाम की कोई शक्ति अवश्य है जिस ने इस संसार को रचा है। उसे कोई ईश्वर कहते हैं तो कोई प्रकृति (नेचर) कह देते हैं। शक्ति एक है, उस के नाम भिन्न-भिन्न हैं। अब यह बताइये कि उस का स्वरूप कैसा है ?

सुखदा—वह ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, निराकार, निर्विकार, न्यायकारी, दयालु, अनादि, अजन्मा, अजर, अमर, अविनाशी, अनन्त, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।

यशोदा—क्या आपके इस कथन की पुष्टि में वेद-शास्त्रों के भी प्रमाण मिलते हैं?

सुखदा—हाँ, बहुत प्रमाण हैं। यहां एक प्रसिद्ध मन्त्र प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यजुर्वेद में कहा है—

स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ —यजुर्वेद ४०।८॥

अर्थात्—'वह परमात्मा (पर्यगात्) सर्वत्र व्यापक, अनन्त सामर्थ्य वाला (शुक्रम्) पवित्र (अकायम्) शरीर से रहित (अव्रणम्) छिद्र आदि से रहित (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों से रहित (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित (अपापविद्धम्) पाप कर्म से दूर, धर्मयुक्त (कविः) सब का ज्ञाता (मनीषी) सब का अन्तर्यामी (परिभूः) सब के ऊपर सर्वत्र विराजमान (स्वयम्भूः) अपने सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहने वाला है। उस ईश्वर ने (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) उस के सामर्थ्य से रहने वाली प्रजाओं के लिए (याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्) आदि सृष्टि में सत्य अर्थों को वेदों के माध्यम से प्रकाशित किया है। उन के द्वारा यथार्थ ज्ञान दिया है।'

इस मन्त्र में परमात्मा के अनेक प्रमुख गुणों का एक स्थान पर उल्लेख है। इस से यह भी ज्ञात होता है कि वह सूक्ष्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक है। उस का न कोई शरीर है और न वह शरीर धारण करता है। अतः उस के अवतार की कल्पना मिथ्या है। ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता।

ईश्वर के गुण

यशोदा–कृपया ईश्वर के स्वरूप को बतलाने वाले उक्त गुणों को एक-एक करके सरलता से समझाने का कष्ट करें। ईश्वर के सच्चिदानन्द होने से क्या अभिप्राय है?

सुखदा–ईश्वर भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में सदा वर्तमान रहने से 'सत्' है। जो चेतन स्वरूप है और जीवों को चेताने तथा सत्य-असत्य का जानने वाला है, इसलिए 'चित्' है। जो स्वयं सदा आनन्दस्वरूप है तथा धर्मात्माओं को आनन्दयुक्त करता है, इसलिए वह 'आनन्द' है। ये तीनों गुण अन्य किसी प्राणी में नहीं घटते, इस कारण 'सच्चिदानन्द' केवल परमेश्वर का ही नाम है।

यशोदा–पौराणिक लोग कहते हैं कि ईश्वर तीर्थों में रहता है, वैकुण्ठ या विष्णुलोक में रहता है। मुसलमान कहते हैं वह सातवें आसमान पर रहता है। आप उसे सर्वव्यापक, सूक्ष्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ और सर्वाधार कहती हैं। किस बात को ठीक मानें?

सुखदा–इस व्यापक ब्रह्माण्ड का रचयिता ईश्वर ही है। जैसे किसी महल या नगर का निर्माण करने वाला शिल्पी प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रहकर निर्माण कार्य करता है और कर्त्ता की उपस्थिति के बिना क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार सर्वव्यापक रहने वाला ईश्वर ही विशाल-व्यापक ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है। जैसे आकाश सूक्ष्म और सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार ईश्वर भी परमसूक्ष्म और सर्वव्यापक है। योगी-जन उस का आत्मा में साक्षात्कार करते हैं तथा वह जीवात्मा में व्याप्त रहकर धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की प्रेरणा करता है। इस कारण वह सर्वव्यापक भी है और सर्वान्तर्यामी (सभी प्राणियों के अन्दर निवास करने वाला) भी सिद्ध होता है। क्योंकि वह 'चित्' और सब का प्रेरक और रचयिता है, इस कारण वह सर्वज्ञ भी है और सब का आधार= आश्रय होने से सर्वाधार है। उसी के आश्रय से समस्त जगत् स्थित है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो इतने विशाल और व्यापक ब्रह्माण्ड का पालन और धारण कर सके। ये सारी बातें ब्रह्माण्ड से भी महान् किसी शक्ति में घटती हैं और वह शक्तिरूप उक्त गुणों वाला ईश्वर ही हो

सकता है।

यशोदा–आपने कहा है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर है। यदि वह इन गुणोंवाला है तो उस में एक स्थान पर बैठकर सारे ब्रह्माण्ड को रचने और धारण करने की शक्ति भी होनी चाहिए। इस से तो यह लगता है कि या तो ईश्वर सर्व-शक्तिमान् नहीं या सर्वव्यापक नहीं ? सर्वशक्तिमान् है तो वह सब कुछ कर सकता है।

सुखदा–इन शब्दों का यथार्थ अर्थ न समझने के कारण आपको यह भ्रान्ति हो रही है। आपके अर्थ के अनुसार तो ईश्वर दूसरे ईश्वर भी बना सकता है, स्वयं को मार भी सकता है, दुष्कर्म भी कर सकता है, जीवों को मनचाहा पाप-पुण्य भी दे सकता है। यदि ऐसा हो जाये तो ईश्वर के सभी गुण नष्ट हो जायेंगे और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र अव्यवस्था हो जायेगी।

सर्वशक्तिमान् का अर्थ है कि ईश्वर अपने कार्य जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, प्रलय, जीवों को फल प्रदान करना, जन्मों की यथायोग्य व्यवस्था करना आदि में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। वह अनन्त सामर्थ्य से सम्पन्न है। सर्वशक्ति से सम्पन्न होने के कारण वह अपना कार्य स्वयं पूर्ण कर सकता है। ईश्वर कोई भी कार्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार वह सब कुछ कर सकने का सामर्थ्य रखता है अतः 'सर्वशक्तिमान्' है। सारे ब्रह्माण्ड और सभी प्राणियों का रचयिता तथा स्वामी होने से वह 'सर्वेश्वर' है। वही इस ब्रह्माण्ड का सब से बड़ा ईश्वर=राजा और व्यवस्थापक है।

यशोदा–आप कहते हैं कि ईश्वर निराकार, निर्विकार, नित्य है। पौराणिक तो कहते हैं कि ईश्वर साकार भी है और सविकार भी। वह अधर्म के बढ़ जाने पर उस के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेता है। वह भक्तों की दुर्दशा तथा दुःख से दुःखी होता है और फिर उन का दुःख दूर करने के लिए संसार में अवतार लेता है। दुःख दूर करके फिर आकार को छोड़कर पुनः अपने निराकार स्वरूप में मिल जाता है। पौराणिक कहते हैं कि ईश्वर अब तक ऐसे चौबीस अवतार ले चुका है।

सुखदा–पौराणिकों का यह कथन युक्ति-प्रमाण के विरुद्ध

है और मिथ्या तथा भ्रान्तियुक्त है। देखिए, आप स्वयं विचार करके तर्क की कसौटी पर परखकर देखिये। जो निराकार है वह साकार नहीं हो सकता और जो साकार है वह निराकार नहीं हो सकता। दोनों बातें एक-दूसरे के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध हैं। उदाहरण के रूप में आप संसार के सूक्ष्म और व्यापक पदार्थों को देख लीजिये। जैसे आकाश, वायु आदि अति सूक्ष्म हैं और व्यापक हैं, उन का कोई स्थूल आकार न तो है और न बन सकता है। इसी प्रकार ईश्वर तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सर्वव्यापक है अतः उस के आकार की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है।

यदि ईश्वर को साकार मानेंगे तो उस में युक्ति के आधार पर अनेक दोष सिद्ध होंगे। साकार ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता क्योंकि वह आकार ग्रहण करने से एकदेशी हो जायेगा। फिर वह न तो सृष्टिकर्त्ता, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता ही हो सकता है और न सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर हो सकता है। क्योंकि एकदेशी सीमित वस्तु के गुण, कर्म, सामर्थ्य भी सीमित ही होते हैं। सीमित गुण, कर्म वाला कभी ईश्वर नहीं माना जा सकता।

दूसरा दोष यह आयेगा कि उस साकार के शरीर तथा अंगों का बनाने वाला कोई दूसरा ईश्वर मानना पड़ेगा । इस प्रकार अनन्त ईश्वरों की कल्पना करनी पड़ेगी। उन का गुण, कर्म, स्वभाव विचार भिन्न-भिन्न होगा। भिन्नता के कारण फिर वे ईश्वर आपस में मनुष्यों की तरह लड़ें-झगड़ेंगे। पौराणिकों के अवतार भी आपस में एक-दूसरे को छोटा और अपने को बड़ा कहते हैं। उन में आपस में मनुष्यों की तरह झगड़े और दोष हैं। ऐसे स्वभाव वाले कभी ईश्वर नहीं कहला सकते। इन को ईश्वर कहना ईश्वर की महिमा को घटाना है और उस का अपमान करना है। इस प्रकार अनेक ईश्वर होने पर भी इन को बनाने वाला कोई अन्य तो होगा ही। अतः निराकार ईश्वर की सत्ता तो फिर भी माननी पड़ेगी।

तीसरा दोष यह आयेगा कि जो साकार होगा वह परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होगा और जो उत्पन्न होगा उस का वियोग, विनाश भी होगा। उस में भूख-प्यास, दुःख-सुख, राग-द्वेष के विकार भी होंगे। ऐसा विकारी, विनाशी अर्थात् मरणशील, परआश्रयी और दुःख-शोक की स्थिति वाला ईश्वर नहीं कहला

सकता। वह तो एक प्राणी ही कहलायेगा। जो जन्म-मरण के बन्धनों में पड़कर सांसारिक, शारीरिक, मानसिक दुःखों-शोकों को भोगेगा। वह दूसरों के दुःखों को दूर करने का पर्याप्त सामर्थ्य नहीं रखता। ऐसे तो एक साधारण मनुष्य या प्राणी भी दूसरे के दुःख को दूर करने में सहयोग करता है। फिर तो सारे ही प्राणियों को ईश्वर का अवतार मान लीजिये।

यशोदा—पौराणिक कहते हैं कि विष्णु, राम, कृष्ण ने अवतार लिया और हिरण्यकश्यप, रावण, कंस आदि का विनाश किया था और अपने भक्तों का उद्धार किया था।

सुखदा—ये सब बातें मिथ्या कल्पनाएं हैं। विष्णु, राम, कृष्ण भी मनुष्य थे। मनुष्यों की तरह माता-पिता के संयोग से जन्मे और मृत्यु को प्राप्त हो गये। हाँ, वे वीर और महापुरुष थे। उन्होंने एक वीर के समान दुष्टों का वध किया और धर्म-मर्यादाओं का पालन तथा प्रचार-प्रसार किया। इन गुणों के कारण लोगों ने उन्हें भ्रान्ति से ईश्वर का अवतार कह दिया। वे केवल वीर और महापुरुष कहे जा सकते हैं ईश्वर के अवतार नहीं।

निराकार ईश्वर को किसी का वध या उद्धार करने के लिए शरीर धारण करने की आवश्यकता है ही नहीं। उस के अनन्त सामर्थ्य के सामने किसी भी दुष्ट प्राणी का चींटी के समान भी सामर्थ्य नहीं है। जो निराकार ईश्वर सारे विशाल ब्रह्माण्ड का कर्त्ता और प्रलयकर्त्ता है, वह एक पल के करोड़वें हिस्से में उस दुष्ट का विनाश उसी अवस्था में रहते हुए ही कर सकता है। उसे अवतार लेने की आवश्यकता ही क्यों है? इसी प्रकार ईश्वर की आज्ञानुकूल चलने वाले, उस की प्रार्थना, स्तुति, उपासना करने वाले भक्त या धार्मिक जनों का उद्धार भी वह निराकार और निर्विकार रूप से करता रहता है।

यदि आप विष्णु, राम और कृष्ण को अवतार मानेंगे तो उस में एक दोष यह आयेगा कि जब अवतार धारण किया तो भक्तों का उद्धार और दुष्टों का विनाश कर दिया। जब अवतार नहीं होगा तब भक्तजन बिना उद्धार के मारे-मारे फिरते रहेंगे और दुष्ट दुष्टता करते फिरते रहेंगे। इस प्रकार वह ईश्वर और उस का अवतार अन्यायकारी और पक्षपाती कहलायेगा, क्योंकि कभी तो वह दुष्टों

को दण्ड देने के लिए अवतार धारण करता है, कभी नहीं करता। कभी आकर भक्तों का उद्धार करता है, कभी नहीं करता। इस में यह भी दोष आता है कि वह ईश्वर जब निराकार अवस्था में रहता है अर्थात् अवतार धारण नहीं करता, तब निष्क्रिय बना रहता है। वह न कर्मफल व्यवस्था करता है, न जन्म-मरण की; न भक्तों की या श्रेष्ठों की सुनता है न दुष्टों को दुष्टता का फल देता है। इस का अभिप्राय यह हुआ कि वह ईश्वरत्व के गुण, कर्म, स्वभाव को छोड़कर निठल्ला बैठ जाता है। अतः वह ईश्वर कहलाने योग्य ही नहीं रहता। इन दोषों से यह सिद्ध है कि ईश्वर के अवतार की कल्पना दोषपूर्ण और युक्ति-प्रमाण रहित है। अतः ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिए।

यशोदा—परमेश्वर सगुण है या निर्गुण ?

सुखदा—वह सगुण भी है और निर्गुण भी।

यशोदा—ये तो दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। आपके सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वर निर्गुण होना चाहिए। क्योंकि हमने तो लोक में सुना है कि निर्गुण का अर्थ निराकार है और सगुण का अर्थ साकार है। ये दोनों विरोधी बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं?

सुखदा—यहां भी समझने में भ्रान्ति है। लोक में जो अर्थ रूढ़ हो चला है वह अर्थ की अज्ञानता के कारण है। निर्गुण का अर्थ है-गुणों से रहित अर्थात् अपने स्वाभावविरुद्ध गुणों से जो रहित है, वह निर्गुण है; जैसे जड़ पदार्थ में ज्ञान, चेतना आदि गुण नहीं हैं तो इस दृष्टि से वह निर्गुण है। सगुण का अर्थ है—गुणों से सहित अर्थात् अपने स्वभाविक गुणों से युक्त जो है, वह सगुण है; जैसे जड़ पदार्थ में रूप, स्थूलता आदि गुण हैं तो इस दृष्टि से वह सगुण है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वाभाविक गुणों की दृष्टि से 'सगुण' और विरोधी गुणों की दृष्टि से 'निर्गुण' होता है।

ऐसे ही परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य, ज्ञान, चेतना आदि गुणों से सहित होने के कारण 'सगुण' कहाता है और जड़ पदार्थ के रूप, स्थूलता आदि तथा जीव के द्वेष आदि गुणों से पृथक् होने के कारण 'निर्गुण' कहाता है।

लोक में रूढ़ अर्थ के अनुसार, निर्गुण का अर्थ यदि सत्त्व, रज, तम, इन तीन प्रकृति-गुणों से रहित मानें तो उस का अर्थ

'निराकार' लिया जा सकता है। वह ईश्वर ही है। किन्तु इन गुणों से युक्त 'सगुण' कहा जायेगा। वह इन गुणों के संयोग से बनने वाला जड़ पदार्थ या जड़ सृष्टि होगी। तब उस का अर्थ साकार जड़ पदार्थ होगा, साकार ईश्वर नहीं, क्योंकि उस में तो उक्त तीन गुणों का संयोग है ही नहीं। इसलिए सगुण से 'साकार ईश्वर' अर्थ ग्रहण करना अज्ञानता है।

यशोदा—आपकी बात बिल्कुल ठीक है कि निराकार ईश्वर साकार नहीं हो सकता। किन्तु एक दोष तो आपकी मान्यता में भी आता है। वह यह कि आप उसे न्यायकारी भी कहते हैं और दयालु भी। ये दोनों परस्परविरोधी बातें हैं, क्योंकि जो न्यायकारी होगा तो दयालु नहीं हो सकता। दयालु का अर्थ है किसी को बिना कष्ट या दण्ड दिये छोड़ देना। इस प्रकार जो दयालु होगा तो वह न्यायकारी कैसे हो सकता है ?

सुखदा—देखिये, इन दोनों संज्ञाओं में कोई विरोध नहीं है। आपको विरोध इसलिए प्रतीत होता है कि आप दयालु शब्द का लोक में रूढ़ अर्थ समझ रही हैं। ईश्वर के सन्दर्भ में उस का लोकरूढ़ अर्थ नहीं है।

इन दोनों ईश्वरीय गुणों का प्रयोजन एक ही है। वह है मनुष्यों को पापों और दुःखों से पृथक् करना और सुख प्रदान करना। न्यायकारी का अर्थ है—कर्मफल के अनुसार यथायोग्य दण्ड, दुःख और सुख देना; न अधिक और न कम। दण्ड देकर वह मनुष्यों को पापों, अपराधों, बुराइयों से निवृत्त करता है। यदि दण्ड न दिया जाये तो दुष्ट मनुष्य और अधिक पापों में लिप्त होता जायेगा। इस प्रकार वह न्याय भी करता है और दया भी करता है। दूसरी उस की दया इस प्रकार है कि वह डाकू, अपहरणकर्त्ता, हत्यारे आदि को कर्मफलानुसार दण्ड न दे तो वे पापी लोग हजारों भले लोगों को कष्ट देंगे। डाकू आदि का वध होने से, उस को बन्धन-दुःख में डाल देने से उन हजारों लोगों का सम्भावित कष्ट मिट जायेगा। इस प्रकार हजारों लोगों पर दया करके उन्हें दुःखों से बचाता है।

ईश्वर की तीसरी दया बहुत महान् है। उस ने प्राणियों को जीवनोपयोगी वायु, जल, प्रकाश, अन्न, फल, पृथ्वी आदि सकल

पदार्थ सभी को समान रूप से यथेष्ट मात्रा में प्रदान कर रखे हैं। मनुष्यों की तरह वह उस का कुछ भी मूल्य या प्रतिदान नहीं लेता। उस ने दया करके मनुष्य जन्म का निर्माण किया है ताकि मनुष्य मुक्ति प्राप्त करके दु:खों से सुदीर्घकाल के लिए छुटकारा पा सके। अब यह मनुष्य के हाथ में है कि वह ईश्वर की दया का कितना लाभ उठाता है। जो लाभ नहीं उठाते वह उन का दुर्भाग्य और अज्ञान है।

यशोदा–जिस प्रकार तर्क देकर आपने समझाया, उस प्रकार कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता। आपके इस तर्कपूर्ण उत्तर से यथार्थ न जानने वाले अनेक पाठकों को लाभ होगा।

सुखदा–मुझे प्रसन्नता है कि आपको मेरी बातें लाभप्रद लग रही हैं। यदि इस चर्चा से पाठक लाभान्वित होंगे तो मैं चर्चा को सफल समझूंगी।

यशोदा–अच्छा, बहन यह बताइये कि यह ईश्वर कभी तो बना होगा और जो है तो वह कभी तो विनाश को भी अवश्य प्राप्त होगा। फिर उसे नित्य कैसे माना जा सकता है ?

सुखदा–उत्पन्न होना प्रकृति का गुण है और वह उत्पत्ति प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से होती है। वे परमाणु प्रकृति के सत्त्व, रज, तम नामक त्रिविध गुणों से बनते हैं। परमेश्वर त्रिगुणातीत अर्थात् उक्त तीनों गुणों से भी रहित और परमसूक्ष्म है, अत: उस में प्रकृति के गुण और परमाणु न होने से उन में संयोग नहीं होता। संयोग न होने से उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति न होने से जरा आदि विकार नहीं होते और न मृत्यु होती है। इस प्रकार वह ईश्वर, उस का कोई उत्पत्ति का आदिकारण न होने से 'अनादि' है, जन्म न होने से 'अजन्मा' है, जरा-प्राप्ति न होने से 'अजर' है, मृत्यु न होने से 'अमर' 'अविनाशी' है, कभी अन्त न होने से 'अनन्त' है और सदा-सर्वदा वर्तमान रहने से 'नित्य' है। वह नित्य शुद्ध स्वभाव है, इसलिए वह 'पवित्र' है।

ईश्वर के द्वारा सृष्टिरचना

यशोदा–आपने कहा है कि वह ईश्वर सृष्टिकर्ता है। जब उस के कार्य करने वाले हाथ-पैर आदि अंग ही नहीं हैं तो वह किसी वस्तु की रचना कैसे कर सकता है ?

सुखदा–ऊपर बताया जा चुका है कि ईश्वर सर्वव्यापक है और सर्वशक्तिमान् है। वह अपनी इच्छामात्र से सृष्टि ही की रचना करता है।

संसार में हम देखते हैं कि हाथ–पैर आदि स्थूल अंगों के बिना बहुत से कार्य होते हैं। जैसे हम भोजन करते हैं। उस भोजन से रस, रक्त, मांस, अस्थि आदि सात धातुएं बनती हैं। गर्भ में बालक का शरीर बनता है। ये सब कार्य बिना अंगों की सहायता से हो रहे हैं। इन सब का रचयिता वही ईश्वर है। वही ईश्वर बिना किसी अंगों की सहायता से सम्पूर्ण सृष्टि की इसी प्रकार रचना करना है। उस रचना में एक व्यवस्था है। व्यवस्था ही किसी व्यवस्थापक की सत्ता का ज्ञान कराती है।

यशोदा–आपने कहा कि शरीर और सात धातुएं भोजन से बनती हैं। इसी प्रकार ईश्वर जगत् को किस वस्तु से बनाता है ?

सुखदा–ईश्वर सत्त्व, रज, तम रूप अनादि प्रकृति से जगत् को रचता है। जगत् की उत्पत्ति में तीन कारण कार्य करते हैं–

१. निमित्त कारण, २. उपादान कारण, ३. साधारण कारण।

जिस शक्ति के द्वारा बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, उसे **'निमित्त कारण'** कहते हैं। निमित्त कारण भी दो प्रकार के होते हैं –

१. मुख्य निमित्त कारण, २. साधारण निमित्त कारण।

सृष्टि के मूल कारण सत्त्व, रज, तम रूप प्रकृति से जगत् को बनाने, धारण करने और प्रलय करने वाला मुख्य निमित्त कारण ईश्वर है। ईश्वर के द्वारा रचित सृष्टि के पदार्थों को लेकर अनेकविध घड़ा, भवन, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि वस्तुएं बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव है। इस के अन्तर्गत मुख्यतः मनुष्य है और गौणतः बया पक्षी, मकड़ी आदि अन्य जीव हैं।

दूसरा उपादान कारण वह होता है जिस से अवस्थान्तर होकर कोई वस्तु बने या बिगड़े। जैसे सत्त्व, रज, तम रूप प्रकृति से और त्रिविधात्मक प्रकृति की वस्तुओं परमाणु आदि से सृष्टि के पदार्थ बनते हैं। मूल प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थ ही उपादान कारण हैं।

तीसरा साधारण कारण उस को कहते हैं जो बनाने में साधन रूप हो जैसे हाथ, आंख, शक्ति, यन्त्र, काल आदि। इन तीन

कारणों के बिना कोई वस्तु नहीं बन सकती। जैसे घड़े को बनाने में कुम्हार निमित्त कारण; मिट्टी, जल उपादान कारण और चक्र, दण्ड, हाथ, ज्ञान, प्रकाश आदि साधारण कारण होते हैं। जैसे संसार के कोई भी पदार्थ बिना किसी के बनाये नहीं बनते, वैसे ही सृष्टि भी बिना किसी के बनाये नहीं बन सकती। इस प्रकार हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि सृष्टि को बनाने वाला ही ईश्वर है।

वेद-शास्त्रों में इस विषयक अनेक शब्दप्रमाण मिलते हैं। जैसे-

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

—ऋग्वेद १० । १९ । ३ ॥

अर्थात्—(धाता) जगत् को धारण करने वाले परमात्मा ने (दिवम्) द्युलोक (पृथिवीम्) पृथिवी लोक (अन्तरिक्षम्) आकाश (अथ स्वः) और इन लोकों में स्थित सुखदायक पदार्थ (सूर्यचन्द्रमसौ) सूर्य, चन्द्र आदि (यथापूर्वम्-अकल्पयत्) जैसे पूर्वसृष्टि में थे, उसी प्रकार रचे हैं।

यशोदा—आदरणीय बहन, आज आपने सब से महत्त्वपूर्ण, गम्भीर और विस्तृत विषय को संक्षेप में तर्क-प्रमाणपूर्वक समझाया। इस को समझकर मुझे ईश्वर विषयक यथार्थ ज्ञान हो गया है और सारी भ्रान्तियां मिट गयी हैं। अब कभी भी मैं पाखण्डियों के बहकावे में नहीं आऊंगी। आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। कल मैं ईश्वर की उपासना के विषय में जानना चाहूंगी।

सुखदा—ठीक है, कल ईश्वर की उपासना के विषय को समझाऊंगी। (दोनों 'नमस्ते' शब्द से अभिवादन के साथ एक दूसरे से विदा होती हैं।)

पांचवां दिन

ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना

क्यों और कैसे ?

यशोदा—बहन, नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते, बहन! आइये, बैठिये।

यशोदा–बहन! कल ईश्वर के स्वरूप सम्बन्धी विषय पर बहुत लम्बी चर्चा चली अतः ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के सम्बन्ध में चर्चा करने का समय नहीं रहा। आज मैं यह जानना चाहती हूँ कि क्या ईश्वर की, स्तुति, प्रार्थना, उपासना या पूजा करनी चाहिए ?

सुखदा–अवश्य करनी चाहिए।

यशोदा–एक ओर तो आपने कहा है कि ईश्वर न्यायकारी, पक्षपातरहित, निर्विकार और कर्मानुसार कर्मफल-प्रदाता है; दूसरी ओर आप उस की स्तुति, प्रार्थना आदि करने के लिए कहती हैं। जब वह स्तुति-प्रार्थना करने पर हमारे पापों को क्षमा नहीं करेगा, हमारे दुःखों को दूर नहीं करेगा तो उस की स्तुति-प्रार्थना करने से क्या लाभ होगा ? हम अपना काम करते रहें, ईश्वर अपना काम करता रहे ?

सुखदा–ईश्वर में आप द्वारा बताये हुए सभी गुण हैं और यह भी बिल्कुल सही है कि वह न्यायव्यवस्था के अनुसार कर्मफल अवश्य प्रदान करता है तथा पापों को क्षमा नहीं करता। याद रखिये, इसी कारण वह न्यायकारी है। यदि वह किसी के पाप क्षमा कर दे, किसी के न करे या किसी से प्रशंसा सुनकर, खुश होकर उस के पाप क्षमा कर दे और प्रशंसा न करने वाले के पाप क्षमा न करे, तो वह संसारी खुशामदपसन्दों की तरह पक्षपाती कहलायेगा। वह न्यायकारी कैसे हुआ ? ऐसा करने से तो समाज में अन्याय, अत्याचार, पक्षपात अव्यवस्थाएं, पाप, अपराध बढ़ेंगे और उन के बढ़ने से दुःख और अशान्ति बढ़ेगी। लोग गलत कामों को करेंगे और स्तुति करके बच जायेंगे। इस से तो बुराई को बढ़ावा ही मिलेगा। ऐसा करने वाला ईश्वर तो क्या, धर्मात्मा मनुष्य भी नहीं कहला सकता। उस का यही न्याय है कि वह प्रत्येक कर्म का यथावत् फल देता है। आप देखिये, जिस देश या राज्य में न्यायानुसार अच्छे-बुरे कर्म का अच्छा-बुरा फल अवश्य मिलता है, वहां व्यवस्था, सुख और शान्ति होते हैं। जहां पक्षपात होता है वहां जनता दुःखों से त्रस्त रहती है। इसी प्रकार ईश्वर के राज्यरूप इस संसार में समझना चाहिये।

यशोदा–इस का मतलब ईश्वर भेंट, पूजा, स्तुति, प्रार्थना

आदि किसी भी कर्म से प्रसन्न होकर पाप क्षमा नहीं करता ?

सुखदा—बिल्कुल नहीं करता। भेंट-पूजा ईश्वर को नहीं मिलती। वह तो पण्डे-पुजारियों के पास जाती है। पाखण्डी लोगों ने ईश्वर के नाम पर लोगों को बहका कर अपना पेट भरने और ठाठ-बाट करने का छलपूर्ण उपाय निकाल रखा है। जो विचारशील नहीं हैं, अन्धविश्वासी और अज्ञानी हैं, वे उन पाखण्डी लोगों के बहकावे में आ जाते हैं और लुटते रहते हैं। आपको पता होना चाहिए कि सभी बड़े धर्मस्थानों में भेंट प्राप्त करने के ठेके छुटते हैं। पुजारी या सरकार फिर उस धन को व्यापार में लगाती है। ईश्वर उस में से कुछ नहीं लेता।

मूर्तिपूजा से हानियाँ

यशोदा—लोग मन्दिरों में जाकर देवी-देवताओं के सामने भेंट चढ़ाते हैं। हजारों मन्दिर बने हुए हैं। लाखों-करोड़ों लोग हजारों सालों से भेंट-पूजा करते आये हैं। क्या वे सब नासमझ हैं?

सुखदा—वे सब अज्ञान, अन्धविश्वास, स्वार्थ और अन्धश्रद्धा के वशीभूत होकर यह सब करते आये हैं और कर रहे हैं। आप स्वयं परीक्षा करके देख लीजिये। पत्थर, धातु, काष्ठ आदि की कोई मूर्ति स्वयं कुछ नहीं खाती-पीती। उस भेंट-पूजा की सामग्री को पण्डे-पुजारी खाते-पीते हैं। यदि भेंट के सामान को जड़ मूर्ति के सामने से न हटाया जाये तो वहीं सड़ जायेगा। जड़ मूर्ति जब स्वयं के लिए कुछ नहीं कर सकती तो भेंट-पूजा देने वाले के लिए क्या कर सकेगी? उस में ईश्वर या देवी-देवता की भावना करना केवल कल्पना और अज्ञान है। करने की बात तो छोड़िये वह मूर्ति आपकी भावना भी नहीं समझ सकती।

यह बात भी ठीक नहीं है कि हजारों वर्षों से मूर्तिपूजा होती आ रही है। मूर्तिपूजा दो-अढ़ाई हजार वर्ष की अवधि से चली है। उस से पहले मूर्तिपूजा का जो वर्णन किया है, वह सब मूर्तिपूजकों ने कल्पित करके लिख दिया है। लिखा गया है नया और उस को प्राचीन कह दिया है ताकि मूर्तिपूजा के आडम्बर से आमदनी होती रहे। आप स्वयं सोचिये कि जब राम-सीता, कृष्ण-रुक्मिणी, शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी आदि थे तो तब के लोग किस की मूर्ति की पूजा करते होंगे ? और ये देवी-देवता खुद किस की पूजा

करते होंगे ?

मैंने पहले बताया है कि ईश्वर निराकार है। उस की कोई साकार मूर्ति बननी सम्भव ही नहीं। वह सर्वव्यापक है। जब वह विश्व के कण-कण में व्याप्त है तो एक पत्थर, धातु या काष्ठ के टुकड़े में उस की कल्पना करना कहां की बुद्धिमत्ता है ?

यशोदा—यह तो भावना की बात है। आपकी जैसी भावना होगी, वैसी ही आस्था होगी। कहा भी है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी॥

यदि हम किसी मूर्ति में प्रभु की भावना कर लें तो इस में हानि ही क्या है? इस बहाने प्रभु की भक्ति तो हो ही जायेगी।

सुखदा—भ्रान्तिपूर्ण भावना करने से भ्रम, असत्य, अज्ञान, अन्धविश्वास और बुराइयां ही फैलती हैं। जो वस्तु जैसी है, उस को वैसा न मानना, अज्ञान है। अज्ञान से भला नहीं हो सकता, बौद्धिक हानि ही होगी। पहला तो अज्ञान यह है कि वे लोग जड़ में चेतन की भावना करके भ्रान्ति और अज्ञान को बढ़ावा दे रहे हैं। दूसरा, ईश्वर के सर्वव्यापकत्व गुण को नष्ट करने का प्रचार कर वे ईश्वरीय अपराध कर रहे हैं। जो वस्तु जैसी है उस को वैसा मानना ही ज्ञान, सत्य और न्याय है। ऐसे सत्य ज्ञान से ही सुख और मोक्ष मिल सकते हैं, अज्ञान से नहीं। क्या अज्ञान को बढ़ावा देना अपराध नहीं है ?

आपकी भावना आपकी मिथ्या कल्पना मात्र होती है। आपकी भावना करने से किसी वस्तु का गुण-स्वरूप नहीं बदलता। रेत में शक्कर की भावना करने से वह शक्कर नहीं बन सकता, लोहे में काष्ठ की भावना करने से वह काष्ठ नहीं होता, पीतल में सोने की भावना करने से वह सोना नहीं बन जाता। इसी प्रकार किसी पत्थर आदि की मूर्ति में चेतन ईश्वर या जीव की भावना करने से वह ईश्वर या जीव नहीं बनता। भावना की बात कहना भ्रान्ति फैलाना है। जिस कर्म का प्रारम्भ ही भ्रान्ति और मिथ्यापन से हो वह शुभ या कल्याण कारक कैसे हो सकता है ? जड़ में आस्था करने से पूजक की बुद्धि भी जड़ होने लगती है क्योंकि जैसी संगति होती है वैसे ही संस्कार होते हैं। सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी

और निराकार ईश्वर को यथावत् मानना यथार्थ ज्ञान, यथार्थ पूजा और यथार्थ उपासना है। मूर्ति के बहाने वास्तविक ईश्वर की पूजा-उपासना नहीं हो सकती।

यशोदा-बहन, एक बात तो आप अवश्य स्वीकार करेंगी कि साकार मूर्ति आदि की पूजा करना आसान है और निराकार की पूजा-उपासना कठिन है। सर्वसाधारण के लिए तो वह और भी अधिक कठिन है। इसलिए दोनों प्रकार से उपासना-पूजा होती रहे तो इस में कोई दोष दिखायी नहीं देता ?

सुखदा-मैंने अभी कहा है कि साकार की पूजा ईश्वर की पूजा या उपासना है ही नहीं। वह तो भ्रान्ति मात्र है। रही बात निराकार-उपासना की। वह कुछ कठिन अवश्य है किन्तु अभ्यास से आसान हो जाती है। किसी भी विद्या या ज्ञान की सिद्धि, साधना और अभ्यास से ही सम्भव होती है। भोजन प्राप्ति और भक्षण में भी उद्यम करना पड़ता है। ईश्वर की उपासना के इच्छुक को शुद्ध अन्तःकरण में ईश्वरीय उपासना का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास से कठिन से कठिन काम भी सरल और साध्य हो जाते हैं। देखिये, सर्कस में अशिक्षित और अल्पशिक्षित बालक-बालिका, पशु-पक्षी और स्त्री-पुरुष अद्‌भुत रोमांचक प्रदर्शन करते हैं। शिक्षा और अभ्यास से पशु भी सुशिक्षित हो जाते हैं फिर मनुष्य तो और अधिक सुशिक्षित हो सकता है। अतः निराकार ईश्वर का अन्तः-करण में ध्यान करना कोई कठिन कार्य नहीं है।

वास्तविक बात तो यह है कि उपासना जड़ मूर्ति से हो ही नहीं सकती, न उस में ध्यान ही एकाग्र हो सकता है। कारण यह है कि परमात्मा का मेल आत्मा में होता है और आत्मा शरीर के अन्तर्गत हृदय में स्थित है अतः परमात्मा का मेल भी वहीं हो सकता है, बाहर नहीं। इस के अतिरिक्त मूर्ति, दीवार, चित्र आदि किसी विषय पर जब तक मन लगा रहेगा तब तक मन में उसी वस्तु का ध्यान रहेगा, ईश्वर का नहीं। सब बाह्यविषयों से मन के हट जाने पर उस शान्त-शुद्ध मन में ही ईश्वर का ध्यान हो सकता है।

जो आप यह कहती हैं कि मूर्ति की पूजा भी कर लेनी चाहिए, यह विचार युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जो ईश्वर

सर्वव्यापक है वह जैसे मूर्ति में है वैसे भेंट दिये जाने वाले पदार्थों में भी है। यदि मूर्ति में ईश्वर मानती हैं तो उन पदार्थों में भी मानिये। यह तो ईश्वर से ईश्वर की पूजा हो जायेगी। इसीलिए मैं कहती हूँ कि मूर्तिपूजा एक भ्रान्तिपूर्ण कर्म है। भ्रान्तिपूर्ण कर्म करना और भ्रान्ति में जीवन जीना बुद्धिमान् का लक्षण नहीं है, और न मनुष्य का चिह्न है। साकार और निराकार दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। निराकार कभी साकार नहीं हो सकता। साकार की कल्पना कर भी ली तो उस से उपासना का सच्चा फल नहीं मिल सकता। आपके जीवन भर का सारा कर्मकाण्ड व्यर्थ जायेगा।

इस के अतिरिक्त मूर्तिपूजा में इतने दोष हैं कि उस से धार्मिकता के प्रसार की तुलना में अधार्मिकता का प्रसार अधिक होता है।

यशोदा–आप यह कैसे कहती हैं कि मूर्तिपूजा में अनेक दोष हैं जिन से अधार्मिकता का प्रसार होता है जबकि मूर्तिपूजा तो धार्मिक कार्य कहा जाता है?

सुखदा–मूर्तिपूजा का इतिहास इन बातों का साक्षी रहा है कि मूर्तिपूजा से मन्दिरों या अन्य धर्मस्थानों में जो धन-सम्पत्ति एकत्रित होती है उस की आड़ में अनाचार फैला है। और उस धन को पण्डे-पुजारियों और सरकार ने अनाप-शनाप व्यापार में लगाया है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में मूर्तिपूजा के १६ दोष गिनाये हैं। वे स्मरण रखने योग्य हैं–

१. निराकार परमात्मा को साकार कल्पित करना और इस प्रकार साकार में ध्यान न लगना, क्योंकि वह ध्यान परमात्मा को त्यागकर उस वस्तु के स्वरूप में ही लगा रहता है।

२. मन्दिर में अन्धश्रद्धावश करोड़ों रुपये देने से लोगों का दरिद्र हो जाना।

३. मन्दिरों के मेलों में स्त्री-पुरुषों के एक साथ होने से व्यभिचार, लड़ाई-झगड़ा, अनेक रोगों का उत्पन्न होना।

४. मूर्तिपूजा को धर्म-कर्म मानने से मनुष्यों का पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गंवाना।

५. विभिन्न मूर्तियों को इष्टदेव मानने से साम्प्रदायिक विद्वेष

उत्पन्न होना, एकमत का नष्ट होना।

६. मूर्ति के इष्टदेव के भरोसे जय-पराजय मानकर शत्रु से मुकाबला न करना और पराधीन होना। जैसे सोमनाथ का मन्दिर मुहम्मद गजनवी ने लूटा था।
७. ईश्वर के नाम पर पत्थर आदि लगाकर ईश्वर की महिमा को नष्ट करना।
८. मन्दिर-मन्दिर घूमकर धन, समय, पुरुषार्थ नष्ट करना।
९. मन्दिर में धनागमन से अनाचार का बढ़ना।
१०. मूर्तिपूजा में कृतकृत्य मानकर माता-पिता आदि की उपेक्षा करना।
११. मूर्ति आदि का चोरी होना और उस पर रोना-पीटना।
१२. धर्म की आड़ में भक्त स्त्रियों को फंसाकर उन से पुजारियों द्वारा अनाचार और परिणामस्वरूप गृहशान्ति का भंग होना।
१३. निठल्ले पण्डे-पुजारियों की परस्पर मारपीट होनी।
१४. जड़पूजा से आत्मा का जड़बुद्धि होना।
१५. पुष्प आदि जल-वायु शोधक पदार्थों का दुरुपयोग करके वातावरण को हानि पहुंचाना।
१६. मूर्ति पर चढ़ाये पुष्प, पत्र, अन्न आदि का सड़कर रोगकारक होना।

इस प्रकार मूर्तिपूजा में दोष ही दोष हैं। लोगों ने पूजा शब्द का अर्थ भी ठीक से नहीं समझा है। यदि सभी लोग 'पूजा' का अर्थ भी ठीक से समझ लें तो जड़-पूजा की भ्रान्ति जड़ से ही मिट जाये।

यशोदा–'पूजा' शब्द का सही अर्थ क्या है?

सुखदा–'पूजा' शब्द का अर्थ होता है–आदर, सम्मान, सत्कार और यथायोग्य व्यवहार अर्थात् जो वस्तु जैसी है उस का यथावत् ज्ञान एवम् उपयोग। जड़ पदार्थ का चेतन के समान आदर-सम्मान करना मूर्खता है क्योंकि उस में आदर-सम्मान को समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। जड़ पदार्थ का यथावत् उपयोग लेना ही उस की पूजा है। जैसे-पानी से प्यास बुझाना, सिंचाई

करना; अग्नि से शीत दूर करना, वैज्ञानिक यन्त्र बनाना; पत्थर से भवन बनाना, चक्की आदि बनाना; लकड़ी से द्वार, मेज, कुर्सी आदि बनाना। इन की आरती उतारने से कभी इन का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इन की पूजा करना ऐसी ही मूर्खता है जैसे कोई कार में संवारी न करके उसे एक स्थान पर खड़ा करके उस की आरती-तिलक करने लगे।

हम चेतन के प्रति ही आदर-सम्मान का व्यवहार कर सकते हैं। माता, पिता, गुरु, वयोवृद्ध, विद्वान्, महापुरुष आदि को हम 'पूज्य, पूजनीय, पूज्यवर' कहते हैं। क्योंकि हम उन का भावनात्मक तथा क्रियात्मक रूप से सम्मान करते हैं और वे हमारी भावनाओं को भी समझते हैं। इन को दान, भेंट, वस्त्र, भोजन आदि देना, इन की सेवा-संभाल करना, यह इन की पूजा है। हमारी उस पूजा से उन्हें सीधा लाभ मिलता है। इसी प्रकार सब से बड़ा उपास्य या पूज्य देव परमात्मा है। क्योंकि उस का कोई स्थूल आकार नहीं, इसलिए उस की पूजा स्थूल पदार्थों से सम्भव नहीं। उस की पूजा आत्मा में उस का साक्षात्कार, अन्तःकरण में उस की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से भावनात्मक रूप में होती है। मूर्ति बनाकर ईश्वर की पूजा करना तो ईश्वर की सीमा, शक्ति, ज्ञान को अल्पतम करके उस का निरादर करना है। इसलिए मूर्तिपूजा के साथ 'पूजा' शब्द जुड़ता ही नहीं। स्वार्थी लोगों ने भोली-भाली जनता को गुमराह करने के लिए जड़ पदार्थों के साथ 'पूजा' शब्द का प्रयोग प्रचलित किया है।

वैसे हमारे शास्त्रों में ईश्वर की भक्ति का ध्यान के लिए 'उपासना' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिस का अर्थ है—ईश्वर के समीप स्वयं को अनुभव करना। मूर्ति के साथ उपासना सम्भव ही नहीं, क्योंकि मूर्ति में कोई गुण होते ही नहीं। न उस जड़ से चेतन आत्मा का विकास या उत्थान ही सम्भव है। अतः मूर्तिपूजा वैदिक सिद्धान्त नहीं है।

यशोदा—आपका कथन तो तर्कपूर्ण है, किन्तु क्या कारण है कि लोग फिर भी इन बातों को स्वीकार नहीं करते? मूर्तिपूजा आदि को स्वीकार कर उसी में भक्ति-पूजा मानते हैं।

सुखदा—अज्ञान, स्वार्थ और लोभ के कारण लोग इन

तर्कपूर्ण बातों को स्वीकार नहीं करते। कुछ को वास्तविक ज्ञान नहीं, कुछ स्वार्थपूर्ति के लिए सत्य को स्वीकार करना नहीं चाहते। कुछ सस्ते में ज्यादा लाभ पाने की इच्छा रखते हैं। कुछ इस भ्रान्ति में रहते हैं कि मूर्ति को दान-भेंट करने से तुम्हारे पाप कट जायेंगे। इस प्रकार दाता के तो पाप नहीं कटते परन्तु पण्डे-पुजारियों के अभाव रूपी पाप कट जाते हैं। इसीलिए वे लोगों को बहकाने में ही लगे रहते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। भोले, स्वार्थी और लोभी जन उन के जाल में फंस जाते हैं। प्राणियों का स्वभाव है कि वे कम मेहनत में अधिक फल पाना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण अधिकांश जन श्रेष्ठ कर्मों में बिना पुरुषार्थ किये अच्छा फल पाने की चाहत में भ्रान्ति का शिकार हो जाते हैं।

यशोदा—आप भी यह तो कहती ही हैं कि प्रत्येक को ईश्वर की भक्ति या स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिए। जब ईश्वर पर इन बातों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता तो यह सब किसलिए करना चाहिए ?

सुखदा—ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना ईश्वर को प्रसन्न और प्रभावित करने के लिए नहीं की जाती अपितु अपने आत्मिक कल्याण और अपनी उन्नति, उत्साह एवं प्रेरणा के लिए की जाती है। उस का लाभ उपासक को पहुंचता है। इसलिए मनुष्य को अपने कल्याण और मोक्ष के लिए ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिए।

उपासना से उपासक को लाभ

यशोदा—उपासक को क्या लाभ मिलता है और कैसे ?

सुखदा—जब आप स्तुति, प्रार्थना, उपासना का सही अर्थ और लक्ष्य जान लेंगी तो आपके मस्तिष्क में यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि इन से उपासक को क्या लाभ होता है।

सब से पहले स्तुति का अर्थ समझिए। स्तुति का अर्थ है— परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का कीर्तन, श्रवण और ज्ञान करना। यह सब गुणकथन सत्य-सत्य होना चाहिए। असत्य गुणों का कथन करना स्तुति नहीं कहलाती। इस का लाभ यह होता है कि उपासक की प्रीति परमेश्वर से होती है। जैसे, परमेश्वर दयालु, न्यायकारी, रक्षक, पवित्र आदि स्वभाव वाला है। उपासक ईश्वर

के इन गुणों का कीर्तन, श्रवण, ज्ञान करके उस में प्रीति बढ़ाता जाता है। उस प्रीति से ईश्वर की प्रेरणा पाकर सदा सन्मार्ग पर अग्रसर रहता है। ईश्वर के प्रति प्रीति न होने से आत्मा में होने वाली ईश्वरीय प्रेरणा के प्रति मनुष्य ध्यान नहीं देता, जैसे कि संसार में मनुष्य प्रियजन की बात मानता है, अन्य की नहीं।

प्रार्थना का अर्थ है—अपने पूर्ण प्रयत्न या पुरुषार्थ के साथ उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर से सहाय, ज्ञान-विज्ञान आदि की याचना करना। प्रार्थना से उत्साहवृद्धि, अहंकाररहितता और ईश्वर के प्रति समर्पणभाव आदि गुण आते हैं। हाथ पर हाथ धरकर परमेश्वर से कुछ मांगना प्रार्थना नहीं कहलाती और ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध याचना भी प्रार्थना नहीं कहलाती। प्रार्थना से ईश्वर में प्रीति दृढ़तर होती जाती है। उपासक को ईश्वर से जो उक्त लाभ होते हैं उन में भी वृद्धि होती जाती है। स्तुति-प्रार्थना की सिद्धि से उपासक उपासना की सफलता की ओर बढ़ता जाता है।

उपासना का अर्थ है—ईश्वर के समीप स्वयं को अनुभव करना। जैसे उस के गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे यथासम्भव स्वयं के भी करना। योगाभ्यास से अपनी आत्मा में उस का साक्षात्कार करना और उस के आनन्द में अपनी आत्मा को मग्न कर देना।

इस प्रकार ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से मनुष्य धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि करते हुए मोक्ष की ओर बढ़ता जाता है और ईश्वर-भक्ति के वास्तविक आनन्द को अनुभव कर सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत करता है। ईश्वर की भक्ति या पूजा-उपासना का यही सच्चा मार्ग है।

उपासना से सामाजिक लाभ

यशोदा—क्या ईश्वर में आस्था रखकर उस की स्तुति-प्रार्थना आदि करने का कोई सामाजिक लाभ भी है ?

सुखदा—हाँ, अनेक लाभ हैं, कुछ प्रमुख लाभ मैं आपको बतलाती हूँ—

१. ईश्वर में सच्ची आस्था रखने वाले लोग एकान्त में भी किसी पाप-अपराध के करने से बचते हैं। ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी और सर्वद्रष्टा समझकर वे यह मानते हैं कि ईश्वर उन

को देख रहा है अतः वे ईश्वर के भय से पाप-अपराध की ओर प्रवृत्त नहीं होते। यदि किसी मानसिक शिथिलता के कारण प्रवृत्त होने भी लगते हैं तो ईश्वर के व्यापकत्व का स्मरण कर फिर रुक जाते हैं। इस प्रकार आस्तिकता से समाज में पापों-अपराधों पर नियन्त्रण स्वतः होता है। पापों-अपराधों की न्यूनता से समाज में सुख-शान्ति का वातावरण बना रहता है।

२. ईश्वर ने प्राणिमात्र की सुख-सुविधा के लिए, जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि, प्रकाश, फल-फूल, अन्न, ओषधि आदि अनेक प्राकृतिक वस्तुएं निःशुल्क और समान रूप से दी हैं। ईश्वर की इस अद्भुत देन के लिए मनुष्य को स्तुति-प्रार्थना-उपासना के द्वारा उस के प्रति प्रतिदिन कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए। कुछ पाकर देने वाले के प्रति कृतज्ञता व्यक्त न करना कृतघ्नता है। कृतघ्नता सामाजिक दोष है जबकि कृतज्ञता सामाजिक गुण। इस प्रकार ईश्वर में आस्था रखने से न्यायकारित्व, दयालुता, करुणा, ज्ञान, सहयोग आदि अन्य अनेक गुणों का भी विकास होता है। ये गुण समाज की सुख-शान्ति, सुव्यवस्था के आधार हैं। इन्हीं गुणों से परिवार में सुख-शान्ति बनती है आपसी विश्वास सुदृढ़ होता है।

३. ईश्वर में विश्वास करने से समाज धार्मिक बनता है। धार्मिक आचरण समाज की उन्नति, सुख-शान्ति, सुव्यवस्था का आधार है। जिस समाज में जितने अधिक लोग धार्मिक होंगे उस में उतना ही सुख और विश्वास होगा, जितने अधिक अधार्मिक होंगे उतना ही अधिक दुःख और अविश्वास होगा। अधार्मिक व्यक्ति पशुवत् स्वार्थी और शत्रुवत् हानिकारक होता है। उस का कोई भरोसा नहीं कि वह कब, किस की, कितनी हानि कर दे। अतः अधार्मिकता बहुत बड़ा और हानिकारक सामाजिक अवगुण है। ईश्वर में आस्था रखने वाला व्यक्ति मर्यादाओं का पालन करने से मानवीय गुणों से युक्त होता है।

४. ईश्वर में आस्था रखने वाला व्यक्ति पुनर्जन्म और ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था में भी विश्वास करता है। अतः जन्म-जन्मान्तर में बुरे फल की प्राप्ति के भय से बुरे कर्मों से पृथक् रहता है। वह इस सत्य को समझता है-

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अर्थात्–किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म, अच्छे और बुरे फल के रूप में अवश्य ही भोगना पड़ेगा। वह क्षन्तव्य नहीं है।

जो ईश्वर में आस्था नहीं रखता, वह पुनर्जन्म और कर्मफल व्यवस्था में भी विश्वास नहीं रखता। उस के मन में अच्छे-बुरे कर्म का भेद नहीं रहता। वह कुछ भी करते हुए इस कारण संकोच नहीं करता कि कोई अच्छा-बुरा फल तो मिलेगा ही नहीं इसलिए अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर लो। वह अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य के अस्तित्व को नकार देता है। इसी कारण नास्तिक जन कैसा भी कर्म करते हुए संकोच नहीं करते। उस का परिणाम यह होता है कि समाज में लोगों का जीवन पशुवत् हो जाता है। जैसे किसी देश या राज्य में अच्छे-बुरे कार्यों का अच्छा-बुरा फल न मिलने से अराजकता और जंगल राज हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर में आस्था न रखने से और प्रतिदिन उस की स्तुति, प्रार्थना, उपासना न करने से उस समाज की भी यही स्थिति हो जाती है।

५. जिस प्रकार कोई बालक अपने माता-पिता में विश्वास रखके निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है, उसी प्रकार उपासक भी प्रत्येक दुःख को ईश्वरीय व्यवस्था मानकर उसे स्वीकार कर लेता है। ईश्वर की शरण में स्वयं को अनुभव कर वह सन्तुष्टि का अनुभव करता है। इस प्रकार उपासक बड़े से बड़े दुःख को भी धैर्य से पार कर जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था को स्वीकार न करने वाला विचलित होकर मानसिक और शारीरिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर में आस्था होने से व्यक्ति और समाज मानसिक रोगों से बचा रहता है। मानसिक रोगों से बचने पर बहुत से शारीरिक रोग भी दूर रहते हैं जैसे–रक्तचाप, हृदयाघात, मधुमेह, पक्षाघात, हिस्टीरिया आदि।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वर में आस्था रखने और प्रतिदिन उस की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से व्यक्ति, परिवार और समाज को लाभ ही लाभ हैं, हानि कोई नहीं, इसलिए ऐसे लाभदायक कर्म को अवश्य अपनाना चाहिए।

उपासना का समय और विधि

यशोदा–हाँ, मुझे भी विश्वास हो गया है कि सच्ची आस्था रखने से ये लाभ तो प्राप्त हो सकते हैं। मुझे भी ऐसा अनुभव हुआ

है। अच्छा, यह बताइये कि आप द्वारा बतायी गयी ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना कब और कैसे करनी चाहिए ?

सुखदा–प्रत्येक मनुष्य को प्रातः सायं शौच-स्नान करने के बाद, स्वच्छ-एकान्त स्थान में बैठकर, एकाग्र होकर शुद्ध मन से अन्तःकरण में ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। यदि दो बार न कर सकें तो एक बार तो अवश्य करनी चाहिए। इस समय ईश्वर के नामों, विशेष रूप से 'ओ३म्' का जप या सन्ध्या के मन्त्रों या वेदों के उपासनाविषयक मन्त्रों का अर्थसहित उच्चारण-मनन या गायत्री का अर्थसहित उच्चारण-मनन करना चाहिए।

ध्यान का अभिप्राय यह है कि सभी इन्द्रियों और मन को बाह्यविषयों से हटाकर ईश्वर के विषय में एकाग्र करना। यह एकाग्रता अभ्यास से सिद्ध होती जायेगी। इस के साथ-साथ वेदादिशास्त्रों, श्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थों और ईश्वर विषयक ग्रन्थों का स्वाध्याय भी करना चाहिए तथा अपने विचार-आचार को भी ईश्वरीय गुणों के अनुरूप उत्तम बनाना चाहिए।

इसी धर्मानुष्ठान को हमारे शास्त्रों में पांच महायज्ञों के अन्तर्गत 'सन्ध्या' कहा गया है। यह अनिवार्य नित्यकर्म है। उन पांच यज्ञों का परिचय गृहस्थ धर्म में दिया जा चुका है।

यशोदा–बहन, आपकी कृपा से ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भी हो गया और उस की स्तुति, प्रार्थना, उपासना की सही पद्धति की जानकारी भी प्राप्त हो गयी। अधिकांश लोगों की तरह मैं भी अब तक भ्रान्ति में थी। आज वे सब भ्रान्तियां दूर हो गयी हैं। आज के बाद मैं ईश्वर की उपासना एकाग्र मन से आत्मा में किया करूंगी, मूर्ति पूजा के द्वारा नहीं।

सुखदा–यदि आप ऐसा करेंगी तो मैं समझूंगी कि मेरे समय और श्रम का सदुपयोग हुआ है। इस निश्चय के लिए आपका धन्यवाद।

यशोदा–मैं भी आपकी बहुत आभारी हूँ। अच्छा बहन, अब मैं चलती हूँ। नित्य और अनादि तीन तत्त्वों में से शेष बचे जीव और प्रकृति के विषय में जानकारी कल प्राप्त करूंगी। नमस्ते!

सुखदा–अच्छा बहन, नमस्ते!

छठा दिन

जीव और प्रकृति का स्वरूप

यशोदा—बहन सुखदा, नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते बहन! आइये, बैठिये।

जीवात्मा का अस्तित्व और लक्षण

यशोदा—आपने दो दिन की चर्चा में ईश्वर के स्वरूप और उस के ध्यान के विषय में बताया। ईश्वर के साथ जीव और प्रकृति की चर्चा भी बार-बार होती है। कृपया, जीव और प्रकृति क्या हैं ? इनके स्वरूप, कार्य आदि के विषय में जानकारी देने का कष्ट करें।

सुखदा—प्राणियों के शरीर का संचालन करने वाला और शरीर में चेतना का कारणरूप सूक्ष्म तत्त्व 'जीव' कहा जाता है। उस के होने से प्राणि-शरीरों में जीवन का अस्तित्व रहता है और न होने से नहीं रहता।

इस संसार में दृश्यमान और अदृश्यमान जो भी पदार्थ और शरीर हैं उन के निर्माण का मूल उपादान तत्त्व 'प्रकृति' कहाता है। वैदिक मान्यता के अनुसार सृष्टिरचना के तीन मूल कारण ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं। ये तीनों नित्य, अनादि, अजन्मा हैं। ईश्वर और जीव चेतनस्वरूप हैं जबकि प्रकृति चेतनरहित अर्थात् जड़ है।

यशोदा—कोई केवल ईश्वर की सत्ता मानता है। कोई ईश्वर और प्रकृति की। आप तीन पदार्थों को सृष्टि का मूल कारण और अनादि मानते हैं। इस कारण आपका सिद्धान्त 'त्रैतवाद' कहा जाता है। यह केवल कल्पना ही है अथवा इस में कोई प्रमाण भी है ?

सुखदा—'ईश्वर का अस्तित्व' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत सृष्टि-उत्पत्ति प्रकरण में मैं यह बता चुकी हूँ कि ये तीन तत्त्व किस प्रकार नित्य, अनादि और मूल कारण हैं। अतः उन बातों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। प्रयोगशाला में इन को सिद्ध करना अभी तक इस कारण सफल नहीं हो सका है क्योंकि ये सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। वैज्ञानिक यन्त्रों की पहुंच उन तक सम्भव नहीं हो सकी है । अभी तक वैज्ञानिक प्रकृति के सूक्ष्मतम

रूप को भी नहीं देख सके हैं। इस का ज्ञान ऋषि-मुनियों ने वेदों के द्वारा प्राप्त किया है और उस पर चिन्तन-मनन कर उन के स्वरूप को उद्घाटित किया है। यहां 'त्रैतवाद' की सिद्धि में शब्द प्रमाण के रूप में वेद का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। आलंकारिक वर्णन द्वारा वेद समझाता है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

-ऋग्वेद १।१६४।२०॥

अर्थात्-(द्वा सुपर्णा) दो पक्षीरूप ब्रह्म और जीव, जो चेतना आदि सुन्दर गुणों से युक्त हैं, (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त होने के कारण साथ हैं, (सखाया) नित्य, अनादि होने से सखा रूप हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) अपने समान नित्य और अनादि प्रकृतिरूप वृक्ष पर विराजमान हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनों ब्रह्म और जीव में से जीव (पिप्पलं स्वाद्वत्ति) फल का स्वाद लेता है अर्थात् पाप-पुण्य रूप फलों का भोक्ता है, जबकि (अन्यः) ब्रह्म (अनश्नन्) फलों का भोग न करता हुआ (अभि चाकशीति) समग्र और सर्वव्यापक होकर प्रकाशित हो रहा है, सब के द्रष्टा रूप में विद्यमान है।

यशोदा-इस वेद मन्त्र में तो बहुत स्पष्ट शैली में तीन तत्त्वों की ओर संकेत है फिर अद्वैतवादी या द्वैतवादी वेद-शास्त्रों का नाम लेकर एक या दो तत्त्वों को सिद्ध करने का प्रयत्न कैसे करते हैं?

सुखदा-वेदों में तो 'त्रैतवाद' का ही उल्लेख है। वे लोग या तो वेदमन्त्र का अनर्थ करके अथवा किसी भिन्न शास्त्र के वचन को वेद का नाम देकर अपनी बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे लोगों को भ्रमित करते हैं।

यशोदा-ठीक है, आपने सही कहा। अब आप पहले जीव के विषय में विस्तार से बताने का कष्ट करें। क्या कहीं जीव के लक्षण भी बतलाये हैं?

सुखदा-हाँ, हमारे शास्त्रों में सभी तत्त्वों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। गुणों के द्वारा ईश्वर, जीव आदि सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान होता है। जिस के होने से जो गुण हों और न होने से गुण न रहें, वे उसी के गुण होते हैं। जैसे अग्नि, सूर्य और दीपक का गुण

प्रकाश है। वह उन के होने से होता है और न होने से नहीं होता। इसी प्रकार न्यायदर्शन में आत्मा के निम्नलिखित गुण बताये हैं–

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्॥

–न्यायदर्शन १।१।१०॥

अर्थात्–(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, (द्वेष) दुःखदायक पदार्थों की अनिच्छा, (प्रयत्न) पुरुषार्थ की प्रवृत्ति, (सुख) सुख-आनन्द की कामना, (दुःख) दुःख की निवृत्ति की इच्छा, (ज्ञान) विवेक, जिज्ञासा, (आत्मनः लिङ्गम्) ये आत्मा की सत्ता के लक्षण हैं। वैशेषिक दर्शन में आत्मा के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार है–

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ –वैशेषिक ३।२।४॥

अर्थात्–(प्राण-अपान) जीवनवायु को ग्रहण करना और बाहर छोड़ना, (निमेष-उन्मेष) आंख को बन्द करना और खोलना, (जीवन) चेतना की स्थिति, (मनः) संकल्प-विकल्प, (गतिः) चलना या चेष्टा, (इन्द्रिय) इन्द्रियों की गतिविधियां (अन्तर्विकाराः) अन्तःकरण में विकारों का होना, यथा-शोक, हर्ष, भूख, प्यास आदि और सुख, दुःख, इच्छा, अनिच्छा, प्रयत्न–ये आत्मा के होने के चिह्न हैं।

जीव (आत्मा) जब शरीर में होता है तब ये लक्षण या गुण प्रकट होते हैं, जब जीव नहीं रहता तब प्रकट नहीं होते। इसीलिए मृत्यु के समय शरीर में ये लक्षण प्रकट नहीं होते क्योंकि आत्मा इस शरीर को छोड़कर निकल जाता है। वही शरीर जो कुछ समय पहले तक हंसता-बोलता, चलता-फिरता, खाता-पीता, सचेष्ट था, वही अचानक जड़वत् निष्क्रिय हो जाता है। यह परिवर्तन ही सिद्ध करता है कि कोई जीव नाम की शक्ति थी, जो अब नहीं रही। इस से यह भी ज्ञात होता है कि चेतना शरीर में नहीं होती, आत्मा में होती है। यदि शरीर में होती तो निष्क्रिय पड़ा शरीर जब वही है, तब उस में एक ही पल में निष्क्रियता नहीं होनी चाहिए थी। इसी प्रकार स्मृति, संस्कार, पुनर्जन्म, कर्मफल भिन्नता आदि से भी जीव की सिद्धि होती है।

यशोदा–जैसे कोई यन्त्र काम करते-करते किसी बाधा के

आने से रुक जाता है, ऐसे ही शरीर की प्रक्रिया में जब कोई बाधा आ जाती है तब शरीर काम करना छोड़ देता है। इस में पृथक् जीव मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सुखदा—यह जड़ का उदाहरण चेतन पदार्थ के साथ नहीं घटता। थोड़ी देर के लिए यदि हम आपके इस उदाहरण को मान भी लें तो जैसे बाधा दूर होने पर यन्त्र काम करना शुरू कर देता है उसी प्रकार शरीर को भी करना चाहिए, किन्तु शरीर काम नहीं करता। एक उदाहरण के द्वारा इस बात को समझाती हूँ। जैसे हृदयाघात या हृदय—अवरोध से किसी की मृत्यु हो जाती है। डॉक्टर हृदय को दबाकर उसे पुनः चालू करने की कोशिश करते हैं। वह कोशिश कभी सफल होती है और कभी असफल। कभी हृदय चेष्टा भी करता है तो भी जीवन नहीं लौटता। यन्त्रों से रक्तसंचालन शुरू भी कर देते हैं तब भी जीवन नहीं लौटता। इस से यही संकेत मिलता है कि जब तक शरीर में जीव विद्यमान रहता है तब तक वह अंगों की चेष्टाओं को स्वीकार करता है। जब नहीं रहता तब सारा शरीर काम करना छोड़ देता है, यहां तक कि यन्त्रों से चालित रक्तसंचार भी बन्द हो जाता है।

इस उदाहरण में यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि शरीर में पहले चेतना कहां से आई थी ? किस ने चेतना दी ? चेतना चेतन का गुण है, जड़ का नहीं। जड़ में चेतना स्वयं नहीं आ सकती। जैसे यन्त्र का निर्माता कोई अन्य होता है, उसी प्रकार शरीर का निर्माता कौन है ? किस ने इसे चालू किया ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर जड़ वस्तु में न मिलने से हमें ईश्वर और जीव की चेतन सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।

जीव ईश्वर का अंश क्यों नहीं ?

यशोदा—चेतन यदि मानना भी पड़े तो हम एक ईश्वर को ही स्वीकार कर लेते हैं। वही शरीर में रहकर चेतना प्रदान करता है। तब जीव की सत्ता पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

सुखदा—यह कथन युक्ति के विरुद्ध है और असम्भव है। ईश्वर सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक का कहीं प्रवेश या निकास सम्भव नहीं। वह तो वहां पहले से ही विद्यमान है और रहेगा। इस प्रकार शरीर की न उत्पत्ति सिद्ध होती है न मृत्यु। फिर वह ईश्वर

सभी पदार्थों और शरीरों में एक साथ एक समान विद्यमान है। ऐसे तो जड़ में चेतना होनी चाहिए और सभी शरीरों का समान व्यवहार होना चाहिए, जो नहीं होता। इस से ज्ञात होता है कि शरीरों का संचालन करने वाली शक्ति पृथक् है। इसी प्रकार प्राणि-शरीरों का जागना-सोना, रोना-हंसना, संयोग-वियोग का व्यवहार होता है। एक ईश्वर में एक समय पृथक्-पृथक् व्यवहार कैसे सम्भव हो सकता है ? ये ईश्वर के गुण भी नहीं हो सकते।

यशोदा—शंकराचार्य आदि वेदान्ती तो जीव को ईश्वर का ही अंश मानते हैं और वेदों के प्रमाण देकर उसे सिद्ध भी करते हैं। जैसे-"**अहं ब्रह्मास्मि**" (बृहदारण्यक उप० १।४।१०), "**तत्त्वमसि**" (छान्दोग्य उप० ६।८।७) "**अयमात्मा ब्रह्म**" (माण्डूक्य उप० १।२) आदि वेदवाक्यों में जीव को ही ब्रह्म माना है। आपके पास इस का क्या उत्तर है ?

सुखदा—बहन, पहली बात तो यह है कि उक्त प्रमाण वेदों के हैं ही नहीं। वेदों का नाम लेकर लोगों को बहकाया जा रहा है। ये तो ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के वचन हैं।

दूसरी बात यह है कि जैसे हम व्यवहार में कहते हैं—"हम एक हैं"। उस का अभिप्राय यह होता है कि हमारे गुण, कर्म, लक्ष्य एक समान हैं, हमारे में मित्रभाव है। कोई दो कभी एक नहीं होते। उसी प्रकार जीव जब समाधि अथवा मुक्ति में ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में होता है और उस के आनन्द को अनुभव करता है तब वह स्वयं को ब्रह्मस्थ मानकर गुण, कर्म, स्वभाव के साधर्म्य से उस के साथ अपने सम्बन्ध या एकता को अनुभव करते हुए यह भावना प्रकट करता है। इन वाक्यों का उस प्रसंग में अर्थ है—

अहं ब्रह्मास्मि=मैं ब्रह्मस्थ हूँ, ब्रह्म के आनन्द में उस के निकट हूँ।

तत्त्वमसि=हे उपासक! उस अन्तर्यामी परमात्मा से तू युक्त है।

अयमात्मा ब्रह्म=यह परमात्मा सर्वव्यापक, सब से महान् है।

इस प्रकार प्रसंग के अनुकूल अर्थ लगाने पर इन वाक्यों के अर्थ में कोई भ्रान्ति नहीं रहती।

यशोदा–यदि ईश्वर और जीव को पृथक् मान लें तो इन की परस्पर कैसी स्थिति रहती है ? और शरीर में दोनों का एक साथ कैसे निवास होगा ? एक साथ दो वस्तुएं कैसे रह सकती हैं ? एक साथ दो चेतन तत्त्वों के विद्यमान रहने से उन में तालमेल कैसे सम्भव है ?

सुखदा–आप द्वारा की गयी आपत्ति समान पदार्थों में घटती है, असमान में नहीं। जैसे दो स्थूल पदार्थ एक स्थान में नहीं रह सकते। जैसे–जहां एक लकड़ी रखी है, वहां दूसरी लकड़ी उसी स्थान में नहीं आ सकती, जहां लोहे का गोला रखा है वहां दूसरा लोहे का गोला नहीं आ सकता। किन्तु असमान स्वरूप होने पर एक स्थान में आ सकते हैं, जैसे-लकड़ी में सूक्ष्म जल व्याप्त होकर रह सकता है, लोहे के गोले में उस से सूक्ष्म अग्नि या विद्युत् व्याप्त होकर रह सकती है। इसी प्रकार जीव सूक्ष्म है और ईश्वर सूक्ष्मतम। अतः ईश्वर जीव में व्याप्त होकर रहता है। इस प्रकार ईश्वर व्यापक है और जीव व्याप्य। यही ईश्वर और जीव की स्थिति है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से सर्वत्र व्याप्त है जबकि जीव शरीर में परिच्छिन्न अर्थात् सीमित स्वरूप में रहता है। जीव के साथ सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर से जुड़ा रहता है अतः उस पद्धति से जीव ही शरीर का संचालक होता है, ईश्वर नहीं।

इस के अतिरिक्त ईश्वर और जीव का सम्बन्ध आधार–आधेय, सेव्य–सेवक, उपास्य–उपासक, स्वामी–भृत्य, राजा–प्रजा, पिता–पुत्र के समान होता है।

जीव स्वतन्त्र और कर्त्ता है

यशोदा–फिर तो जीव को ईश्वर के अधीन होना चाहिए। अर्थात् जीव जो करता है, वह वही करता है, जो ईश्वर आदेश देता है; चाहे वह अच्छा है या बुरा। इस प्रकार जीव पर किसी अच्छे–बुरे काम का दोष भी नहीं आना चाहिए क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है।

सुखदा–ईश्वर और जीव की स्वतन्त्र सत्ता है, अतः जीव अच्छे–बुरे कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु उन कर्मों का फल भोगने में ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन है। ईश्वर ने जगत् और शरीर की रचना करके उस को जीव के अधीन किया है। शरीर, मन, इन्द्रिय,

कर्म, वचन जीव के अधीन हैं, उन से जैसा वह पाप-पुण्य करता है वैसा ही उस को फल भोगना पड़ता है।

जैसे स्वामी, राजा या पिता आदेश देता है, किन्तु उस को यथावत् न मानना या साथ ही स्वतन्त्र कर्म या चेष्टा करना जैसे भृत्य, प्रजाजन या पुत्र की स्वतन्त्रता के अधीन होता है, उसी प्रकार ईश्वर श्रेष्ठ कर्मों की प्रेरणा तो हृदय में करता है किन्तु उस को मानने, न मानने में जीव स्वतन्त्र है अर्थात् स्वाधीन है। कर्मों के अनुसार जीव को अच्छा-बुरा फल या जन्म मिलता है। इस पर विस्तार से चर्चा कर्मफल-प्रसंग में की जायेगी।

जीवों में जो मनुष्येतर पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि योनियां हैं, वे कर्म करने और फल भोगने में, दोनों स्थितियों में ईश्वराधीन हैं अर्थात् परतन्त्र हैं। वे केवल भोगयोनियां हैं।

प्रकृति का स्वरूप

यशोदा—ईश्वर और जीव के विषय में आपने विस्तार से जानकारी दी। अब तीसरा तत्त्व जो 'प्रकृति' है इस के विषय में जानकारी देने की कृपा करें कि 'प्रकृति' नामक तत्त्व का क्या स्वरूप है ?

सुखदा—संसार की रचना में काम आने वाले तीन मूल कारणों में 'प्रकृति' तीसरा मूल कारण है। यह सृष्टि-रचना में 'उपादान' कारण के रूप में काम आता है। जैसे घड़े को बनाने में मिट्टी, जल आदि वस्तुएं उपादान के रूप में प्रयुक्त होती हैं। यह कारण नित्य, अनादि और जड़ है। सांख्यदर्शन में इस के स्वरूप और इस से सृष्टिरचना किस प्रकार होती है, इस विषय पर प्रकाश डाला है। आचार्य कपिल कहते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्, पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

—सांख्यदर्शन १।६२॥

अर्थात्—सत्त्व, रज, तम नामक कारण रूप तीन मूल तत्त्वों की जो साम्य अवस्था है, उस का नाम प्रकृति है। इन तीन मूल तत्त्वों से संसार के सभी पदार्थों और प्राणि-शरीरों का निर्माण हुआ है। संसार का जब निर्माण होने लगता है तब इन तीनों तत्त्वों से जो

पहला सूक्ष्म तत्त्व बनता है उस का नाम 'महत्' है। महत् से अहंकार बनता है, अहंकार से पांच महाभूतों के सूक्ष्म तन्मात्र नामक तत्त्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। अहंकार से ही शरीर के अन्दर विद्यमान मन और दस इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप बनता है। वे दस इन्द्रियां हैं–आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा हाथ, पैर, वाक्, गुदा और मूत्रेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय, मन ग्यारहवीं इन्द्रिय मानी जाती है क्योंकि यह ज्ञान और कर्म दोनों रूप है। पांच तन्मात्र रूप तत्त्वों से पांच स्थूल महाभूत बने, वे हैं–आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। इन महाभूतों से संसार के समस्त पदार्थ निर्मित हुए। जब प्राणि-शरीरों का बीज रूप में निर्माण हो चुका तो उस से पुरुष अर्थात् जीवात्मा का संयोग होकर चेतन पदार्थ बने। पुरुष से यहां अभिप्राय ईश्वर से भी है। वह ईश्वर समस्त संसार का निमित्त कारण है वही प्रकृति से संसार का निर्माण करता है और जीव का शरीरों से कर्मफल के अनुसार संयोग करता है। यह वैदिक मान्यता के अनुसार सृष्टि-रचना की प्रक्रिया है। जब प्रलय का समय आता है तब समस्त पदार्थ प्रतिक्रम से विखण्डित होने लगते हैं और सत्त्व, रज, तम रूप में मूल कारण का स्वरूप धारण कर लेते हैं। ये तीन मूल कारण हैं, शेष सब तत्त्व या पदार्थ इनके कार्यरूप हैं।

यशोदा–इस सृष्टि के मूल कारण 'प्रकृति' को आप अनादि कह रही हैं। क्या यह मान्यता किसी शास्त्र में वर्णित है ?

सुखदा–हाँ, अनेक शास्त्रों में वर्णित है। यहां एक बहुत ही स्पष्ट कथन उपनिषद् का दिया जा रहा है–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

–श्वेताश्वतर ४।५॥

अर्थात्–जगत् के तीन पदार्थ मूल कारण और अज=अजन्मा, अनादि हैं। उन में एक 'अजा'=अजन्मा, अनादि प्रकृति है जो सत्त्व, रज और तम रूप है और जिस से विविध प्रकार की प्रजाओं की तथा पदार्थों की सृष्टि हुई है। एक 'अज'=अजन्मा, नित्य जीव है, जो सृष्टि का भोग करते हुए उस में फंस जाता है। एक अन्य 'अज'=नित्य ईश्वर है, जो न इस का भोग करता है, न इस में

फंसता है।

सृष्टि-रचना और प्रलय का समय

यशोदा—प्रकृति से बनी इस सृष्टि को कितना समय हो चुका है ? कितने समय तक यह बनी रहेगी ? इस के प्रलय का समय कितना है ?

सुखदा—एक सृष्टि की स्थिति की काल-सीमा ४,३२,००,००,००० (चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष) की होती है। इतने ही समय तक प्रलय की काल-सीमा होती है। सृष्टि की रचना और प्रलय यह प्रवाह चलता रहता है । जैसे दिन और रात होते रहते हैं। इस सृष्टिकाल को १,९६,०८,५३,१०४ वर्ष हो चुके हैं और २,३५,९१,४६,८९६ वर्ष शेष हैं। इस के बाद फिर प्रलय हो जायेगी। वैदिक सृष्टिविद्या के प्रसंग में सृष्टि के रचना काल को 'ब्रह्मदिन' कहा जाता है और प्रलय को 'ब्रह्मरात्रि' कहा जाता है।

यशोदा—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय किस प्रकार होती है ?

सुखदा—जब सृष्टि की रचना का समय आता है तब ईश्वर प्रकृति के मूल परमाणुओं का संयोग करता है। फिर वे पूर्व बताये क्रम से कार्य रूप में बदलकर पदार्थ बनते जाते हैं। सृष्टि की स्थिति के समय यह प्रक्रिया चलती रहती है। जब चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बाद प्रलय का समय आता है तब ईश्वर अपनी इच्छामात्र से परमाणुओं का विघटन करना आरम्भ कर देता है। सभी पदार्थ विघटित होते-होते अपने मूल रूप सत्त्व, रज, तम रूप 'प्रकृति' की अवस्था में आ जाते हैं और अगली सृष्टि-रचना होने तक उसी रूप में रहते हैं। इस प्रकार यह उत्पत्ति और प्रलय का क्रम अनादि-अनन्त रूप से चलता रहता है।

यशोदा—आज आप से जीवात्मा और प्रकृति का स्वरूप जाना। आपका धन्यवाद। कल जीव के कर्मफल, पुनर्जन्म और मुक्ति के विषय में जानना चाहूंगी। आज चलती हूँ। अच्छा बहन नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते, बहन!

सातवां दिन

कर्मफल, पुनर्जन्म और मुक्ति

यशोदा—बहन, नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते, बहन! आइये, विराजिये।

यशोदा—बहन, जैसा कि मैंने कल निवेदन किया था, जीवात्मा से सम्बन्धित कुछ जिज्ञासाएं हैं जिनका समाधान आपसे जानना चाहती हूँ। यह विषय भी बहुत जटिल है।

सुखदा—हाँ, अवश्य जानिये। जैसा उत्तर मुझ से बनेगा आप को बताऊंगी। मेरी यह कोशिश होगी कि सरल तरीके से इस विषय को समझाऊं।

कर्मफल की प्राप्ति

यशोदा—क्या कर्मों का फल मिलता है ?

सुखदा—हाँ, अवश्य मिलता है। आपको इस विषय में सन्देह क्यों हो रहा है ?

यशोदा—मुझे सन्देह दो कारणों से हो रहा है—एक, यदि हमें कर्मों का फल मिलता तो हमें पता होता कि यह फल किस कर्म का है। वास्तविक स्थिति यह है कि किसी को यह पता ही नहीं है कि उसे कोई कर्मफल मिल रहा है या नहीं ? है तो किस कर्म का ?

दूसरा, जो बुरे कर्म करने वाले हैं वे सुखी जीवन जी रहे हैं और जो अच्छे कर्म करने वाले हैं, वे दुःखी हैं। इस से यही लगता है कि कर्मफल कुछ नहीं है, सब यों ही हो रहा है।

सुखदा—बहन! सरसरी तौर पर किसी बात को देखकर सन्देह में नहीं पड़ना चाहिए। प्रत्येक बात को गम्भीरता से विचारना और परखना चाहिए। कर्मफल की व्यवस्था का विषय जीवात्मा के नहीं, परमात्मा के अधीन है। जीव अल्पज्ञ होता है अतः उस का ज्ञान और स्मृति सीमित है। जीवों में भी बुद्धि और स्मृति अलग-अलग है और अवस्था के अनुसार अधिक कम भी हो जाती है। मनुष्य को दिन भर के सारे काम भी याद नहीं रह पाते, फिर वर्षों पुराने काम या जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियां साधारणतया सम्भव नहीं हैं। यह स्मृति बालपन और वृद्धपन में और कम हो

जाती है अतः कर्मफल जैसे सूक्ष्म और गम्भीर विषय का ज्ञान व स्मरण मनुष्य के वश का नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ होने से पूर्ण ज्ञानपूर्वक कर्मफल की व्यवस्था करता है। बुरा फल बुरे कर्मों का परिणाम है, अच्छा अच्छों का, और मिश्रित फल मिश्रित कर्मों का। अनुमान प्रमाण से, तर्क और शब्दप्रमाण से इन बातों का निश्चय होता है। शास्त्रों में यह स्पष्ट वर्णन मिलता है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जो अच्छे कर्म करते हैं उन को अच्छा, सुखदायक फल मिलता है और जो पाप-अपराध करते हैं, उन्हें दण्ड, फटकार, कैद, फांसी आदि मिलती है। ईश्वर भी न्यायकारी है वह न्यायोचित ही फल देगा और अवश्य देगा। कभी-कभी प्रत्यक्ष प्रमाण से भी हमें कर्मफल का ज्ञान हो जाता है। पुनर्जन्म को स्मरण रखने वाले बालक अपने कर्म, मृत्यु और पुर्नजन्म को स्पष्ट बतला देते हैं। पूर्वजन्म के घर, गांव तथा व्यक्तियों को पहचान कर उन के कार्यों को भी बतला देते हैं। योगी जन भी पूर्वजन्मों का स्मरण कर लेते हैं।

दूसरी बात जो आपने कही है उस का उत्तर यह है कि बुरे कर्म करनेवाले उस काल में किन पुराने कर्मों का फल भोग रहे हैं, इस रहस्य को केवल ईश्वर ही जानता है। उन बुरे कर्मों का फल कब, कैसे मिलेगा, यह भी वही निश्चित करेगा। अधर्म करने वाला एक बार फलता-फूलता दृष्टिगत होता है किन्तु अन्तिम परिणाम में वह विनाश को प्राप्त होता है। जैसे कोई फला-फूला वृक्ष आंधी में जड़ से उखड़कर नष्ट हो जाता है। घोर पापी-अपराधी कुछ ही जीवन जीकर नष्ट हो जाते हैं। कुछ अधर्मियों का देखते-देखते वंश ही नष्ट हो जाता है। इसलिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कर्मों का फल शीघ्र या जन्म-जन्मान्तर में कभी भी ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार अवश्य मिलता है। प्रकृति में भी हम देखते हैं कि कोई फसल एक या तीन महीने में, कोई एक वर्ष, कोई तीन वर्ष में पकती है। उसी प्रकार अच्छे और बुरे कर्मों का फल-विपाक होता है। आज का दुखिया कुछ ही समय बाद सुखी हो जाता है और आज का सुखी बहुत दुःखी हो जाता है। राजा रंक बन जाता है, रंक राजा बन जाता है। गरीब परिश्रम के फल से धनवान् बन जाता है जब कि धनवान् आलस्य,

प्रमाद से गरीब बन जाता है। ऐसे उदाहरण एक ही जन्म या पीढ़ी में हजारों मिलेंगे। अतः इस में बिल्कुल सन्देह नहीं करना चाहिए कि कर्मफल मिलता है या नहीं।

यशोदा—यह कैसे माना जाये कि कर्मफल ईश्वर ही देता है? क्या स्वयं फल की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है, जैसे अन्य प्राकृतिक पदार्थों में प्रतिक्रियाएं होकर पदार्थों में परिवर्तन आ जाता है ?

सुखदा—किसी बने हुए प्राकृतिक पदार्थ में प्रतिक्रिया होकर उस की अवस्था में परिवर्तन आ जाता है। प्राकृतिक पदार्थ की प्रतिक्रिया स्वरूप चेतन पदार्थों का जन्म नहीं हुआ करता। यही कारण है कि चेतन योनियां ईश्वर द्वारा निर्धारित प्रक्रिया से ही उत्पन्न होती हैं।

प्रत्येक जीव का स्वभाव है कि वह किसी भी दुःख को नहीं चाहता। वह अपनी हानि भी नहीं चाहता। वह शरीर में विकार, मृत्यु आदि भी नहीं चाहता। किन्तु फिर भी उस को ये स्थितियां भोगनी पड़ती हैं। इस से ज्ञात होता है कि जीव के न चाहते हुए भी कोई ऐसी शक्ति है जो उसे इन स्थितियों में भोग भुगवा रही है और विशेष रूप से दुःखद स्थिति में। यह भी मानना पड़ेगा कि वह शक्ति उस से महान् और शक्तिशाली भी है। वह शक्ति ही ईश्वर है जिस के अधीन जीव के जन्म, मृत्यु और कर्मफल हैं। वह कर्मानुसार न चाहते हुए भी अवश्य फल देता है।

यशोदा—जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, अपंगता-विकृति आदि तो शरीर के साथ घटित होते हैं। इस का अभिप्राय यह हुआ कि कर्म का फल शरीर को मिलता है, जीवात्मा को नहीं ?

सुखदा—शरीर जड़ है, मन भी जड़ है, इन्द्रियां भी जड़ हैं। जड़ को ज्ञान और भावनात्मक अनुभूतियां नहीं होतीं। जैसे पत्थर, ईंट आदि को शीत-उष्ण, सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। शरीर में चेतन जीवात्मा है। शरीर, इन्द्रिय रूपी साधनों से उसी को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। जिस को ज्ञान और अनुभूति होती है वही कर्मों का कर्त्ता है, वही फल का भोक्ता है।

दूसरा तर्क यह है कि जैसे लाठी, तलवार, बन्दूक आदि से कोई किसी का वध करता है तो उस वध के जड़ साधनों को दण्ड

नहीं मिलता, वधकर्त्ता चेतन जो होता है उस को दण्ड मिलता है। उसी प्रकार शरीर रूपी जड़ साधन को फल नहीं मिलता अपितु उस शरीर में विद्यमान जीव को उस का फल मिलता है। जीव ही सुख का आनन्द उठाता है।

कर्मफल और जन्म-प्राप्ति

यशोदा—आप यह निश्चय कैसे करती हैं कि कर्म का फल जन्म-जन्मान्तर में मिलता है और अवश्य मिलता है ? क्या विभिन्न योनियां भी कर्मफल का ही परिणाम हैं ?

सुखदा—जो तर्क ऊपर दिये हैं उन्हीं तर्कों, शब्दप्रमाणों और प्रत्यक्ष प्रमाणों से। देखिए, जिस दिन बच्चा जन्म लेता है उसी दिन से प्रत्येक बालक की बुद्धि, शरीर और परिस्थितियों में अन्तर होता है। यदि कर्मफल न होता तो सब की सब बातें एक जैसी होनी चाहिए थीं। कर्मफल की भिन्नता से ही ये सुख-दुःखात्मक भिन्नताएं उत्पन्न होती हैं। जैसे कोई बालक शरीर से स्वस्थ है, कोई अस्वस्थ। कोई सर्वांग है, कोई अन्धा, काना, लूला-लंगड़ा। कोई बुद्धिमान् है, कोई मन्दबुद्धि तो कोई पागल। कोई लखपति, करोड़पति, अरबपति है तो कोई महानिर्धन। कोई सुविधाभोगी होता है तो कोई भूखा और साधनहीन। ऐसी ही परिस्थितियां सम्पूर्ण जीवन में रहती हैं। इन से ज्ञात होता है कि यह सब कर्मों का फल है। उसी के अनुसार गर्भस्थ और जन्म से ही बालक को सुख-दुःख मिलते दिखाई पड़ते हैं। असमान परिस्थितियां इस बात को सिद्ध करती हैं कि पूर्वजन्म में भी असमान परिस्थितियां थी।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जाति-आयु-र्भोगाः ।—योग० २।१३॥

अर्थात्—'जाति=मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जन्म, आयु=जीवन अवधि, भोग=सुख-दुःख-विषयक भोग मनुष्य को कर्मफल के अनुसार मिलते हैं। उस का कारण धर्म-अधर्म रूप होता है।'

ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धियुक्त सर्वांगसुन्दर शरीर उपकार और सहयोग के लिए दिया है ताकि वह श्रेष्ठ कर्म करके मुक्ति प्राप्त कर सके। जब मनुष्य अंगों से अधर्म करता है, आंख से कुदृष्टि डालता है, हाथ से वध करता है, पैरों से कुमार्ग पर चलता है तो परमात्मा किसी की आंख, किसी के हाथ, किसी के पैर छीनकर

उन्हें उस-उस प्रकार की योनियां प्रदान करता है। जो सम्पूर्ण शरीर से पाप करता है, उन्हें वृक्ष आदि स्थावर योनियां प्रदान करता है। जैसे कोई लाठी से प्रहार कर किसी को घायल करता है तो लोग उस की लाठी छीनकर एक ओर रख देते हैं। उसी प्रकार परमात्मा भी कर्मफलानुसार अंगों को छीन लेता है ताकि उस के वे संस्कार क्षीण हो सकें।

यशोदा—क्या पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट, पतंग आदि में भी वही जीव है जो मनुष्यों के शरीर में है?

सुखदा—हाँ, जीव एक जैसा है। उस के शरीर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कर्मफल के अनुसार उस जीव को भिन्न-भिन्न योनियां मिलती हैं।

किस कर्म से कौन सी योनि मिलती है?

यशोदा—किस प्रकार के कर्मों से कौन-कौन-सी योनियां मिलती हैं, क्या इस का कोई विवरण शास्त्रों में मिलता है?

सुखदा—हाँ, मिलता है। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में इस का विशद वर्णन है। उस के अनुसार, सत्त्व, रज और तम नामक मूल प्रकृति के गुणों से प्रत्येक शरीर बनता है। गुणों के आश्रय से मनुष्य की भी तीन प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। जो जिस गुण के वशीभूत होकर कार्य करता है, उस को उसी आधार पर कर्मफल मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार, तीन गुणों के लक्षण और कर्म इस प्रकार हैं—

सत्त्वगुण—सत्त्व गुण का लक्षण ज्ञानप्राप्ति और धर्मपालन में रुचि होना है। मनुष्य के मन में शुद्धता और आत्मा में प्रसन्नता जब होती है तब यह समझो कि आत्मा में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। जिस कार्य को करते हुए आत्मा में भय, शंका, लज्जा की अनुभूति न होकर अभय, उत्साह, प्रसन्नता हो, वह कार्य सत्त्वगुण युक्त है। ज्ञान और धर्म के अतिरिक्त वेदाभ्यास में रुचि, शरीर की स्वच्छता, मन की पवित्रता, इन्द्रियों का संयम रखना अर्थात् उन को विषयों में लिप्त न होने देना, परमात्मा का चिन्तन और उपासना, ये सत्त्वगुण के लक्षण और कर्म हैं। जिन लोगों में इन की ओर प्रवृत्ति हो तो ये समझो कि वे सत्त्वगुणी व्यक्ति हैं।

सत्त्वगुण से परजन्म प्राप्ति—सत्त्वगुणी व्यक्ति मनुष्य जन्म प्राप्त कर विद्वान्, धार्मिक और देवतास्वरूप बनता है। सत्त्वगुणी लोग तपस्वी, साधु-सन्त, वेदविशेषज्ञ, याज्ञिक, ऋषि, विभिन्न विद्याओं में पारंगत वैज्ञानिक, योगी, सृष्टिकला के ज्ञाता आदि विद्वान् बनते हैं।

रजोगुण—राग-द्वेष का स्वभाव, चंचल और चिड़चिड़ा व्यवहार, कार्य के आरम्भ में रुचि होकर फिर समाप्त हो जाये, अश्रेष्ठ कार्य करना, विषय-वासना में लिप्त रहना, धन-सम्पत्ति के संग्रह में लगे रहना, ये रजोगुण के लक्षण हैं। जब मनुष्य में लोकैषणा का भाव प्रबल हो, धनसंग्रह में आसक्त हो और प्रसिद्धि के लिए येन-केन प्रकारेण लगा रहे तो समझो उस में रजोगुण की प्रबलता है।

रजोगुण से परजन्म प्राप्ति—रजोगुण की प्रधानता वाले लोगों को मनुष्य जन्म तो मिलता है किन्तु वे उस के कारण रूपवान्, विद्वानों के अनुचर, गायक, वादक, धनवान्, वकील, राजपुरोहित, क्षत्रिय, राजा, व्यसनी, शस्त्रास्त्र संचालक, कलाकार आदि का जन्म पाते हैं।

तमोगुण—अज्ञान, विषयों में आसक्ति, तर्क-वितर्क रहित विचार और आचरण, ज्ञानहीनता, मोह-माया के वशीभूत रहना, लोभ-लालच, आलस्य और निद्रा की अधिकता, धैर्य का अभाव, क्रूरता, नास्तिकता, अन्तःकरण में अस्त-व्यस्तता, नास्तिकता, परपदार्थों में रुचि, कार्यों को करने में प्रमादी होना, ऐसे कार्य करना जिन को करते समय आत्मा में भय, शंका, लज्जा की अनुभूति हो, तो समझो तमोगुण की प्रधानता है।

तमोगुणी को परजन्मप्राप्ति—तमोगुणी कर्म करने वाला व्यक्ति परजन्म में राक्षस, पिशाच, चारण-भाट, म्लेच्छ, शूद्र आदि के रूप में मनुष्य जन्म और पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि का जन्म प्राप्त करते हैं।

जो जीव परजन्म में अपनी उत्तम गति चाहते हैं उन्हें उक्त विवरण के अनुसार अच्छे कर्म करने चाहिएं। जन्म तो अनेकविध हैं। यह तो एक संकेतमात्र है।

तीन प्रकार के कर्म और उनका फल

यशोदा—गुण भेद से ये तीन प्रकार के कर्म हुए। शारीरिक

आचरण के भेद से भी कर्मों का विभाजन और कर्मफल कथन किया जाता है। वे कर्म और उन की गतियां कौन-सी हैं ?

सुखदा–मनुष्य, शरीर से जितने भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, वे तीन प्रकार के माने गये हैं–१. मानसिक, २. वाचिक, ३. शारीरिक। उन का विवरण इस प्रकार है–

१. मानसिक अधर्म–चोरी का विचार, किसी का बुरा करने की सोचना, ईर्ष्या-द्वेष आदि, मिथ्या विचार, ये प्रमुख मानसिक अधर्म हैं। मानसिक अधर्म करने वाला पर जन्म में मन के कष्ट से ही इन को भोगता है। मानसिक अधर्म करने वाला निम्न स्तर के चाण्डाल आदि जन्मों को पाता है।

२. वाचिक अधर्म–कटु और क्रूरभाषण, मिथ्या भाषण, चुगली करना, किसी पर अनर्गल आरोप लगाना, ये प्रमुख वाचिक अधर्म हैं। ऐसा व्यक्ति वाणी के कष्ट से इन का फल भोगता है। वाचिक अधर्म करने वाला परजन्म में पशु, पक्षी आदि के जन्म को प्राप्त करता है।

शारीरिक अधर्म–चोरी करना, हिंसा और क्रूर आचरण, परस्त्रीगमन, ये प्रमुख शारीरिक अधर्म हैं। इन का फल शारीरिक कष्ट से ही भोगा जाता है। ऐसा व्यक्ति परजन्म में वृक्ष आदि जन्मों को प्राप्त करता है।

क्या पुनर्जन्म होता है ?

यशोदा–पुनर्जन्म को ईसाई, मुसलमान, नास्तिक आदि नहीं मानते। पुनर्जन्म होता है, इस का निश्चय कैसे होगा ?

सुखदा–गत चर्चा में कर्मफल की भिन्नता के आधार पर जन्म, परिस्थितियां, सुख-दुःख आदि की जो भिन्नता की चर्चा की है, वह पूर्वजन्म और उस के कर्मफल को सिद्ध करती है। पूर्व जन्म में भिन्नता न होती तो वर्तमान जन्म में सभी मनुष्यों को सभी तरह से एक जैसा होना चाहिए था।

दूसरा प्रमाण यह है कि विश्व में समय-समय पर ऐसे उदाहरण मिलते रहते हैं कि छोटे-छोटे बालकों को पूर्वजन्म की स्मृति होती है और वे पूर्वजन्म की अधिकांश बातों को बतला देते हैं तथा पूर्वजन्म से सम्बन्धित गांव, जन्मस्थान, रिश्ते-नातेदार आदि को पहचान लेते हैं। ऐसे सचित्र और सविवरण समाचार अखबारों

में छपते रहते हैं। इस से बढ़कर पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इसी प्रकार योगी जन योगाभ्यास से पूर्वजन्म की स्मृतियों को स्मरण कर लेते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में बताया है कि योगी किस प्रकार पूर्वजन्मों को स्मरण कर लेता है–

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंताबोधः।" –योगदर्शन २।३९॥

अर्थात्–'मन, इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर एकाग्रध्यान से जन्म कैसे-कैसे हो चुके हैं, इस तथ्य का बोध हो जाता है।'

शब्दप्रमाणों से भी पुनर्जन्म होने का ज्ञान होता है। निरुक्त में आचार्य यास्क जीव के विभिन्न जन्मों को इस प्रकार वर्णित करते हैं–

मृतश्चाहं पुनर्जातः जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥

–निरुक्त १४।६॥

अर्थात्–'मैं मरकर फिर पैदा होता रहा हूँ, पैदा होकर फिर मरता रहा हूँ। इस प्रकार अनेक प्रकार के हजारों जन्मों में मैंने जीवन बिताया है।' गीता में भी यही कहा गया है कि जीव मृत्यु के रूप में शरीर बदलता है और फिर नया जन्म रूपी शरीर धारण कर लेता है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

–गीता २।१४॥

अर्थात्–'मनुष्य जैसे पुराने-मैले कपड़ों को उतारकर नये धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीव शरीर के जीर्ण हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य नये शरीरों को धारण कर लेता है।' इस प्रकार प्रत्येक जन्म में जीव शरीर बदलता रहता है। बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते किन्तु पुनर्जन्म को मानते हैं। जातक कथाओं में महात्मा बुद्ध के अनेक पूर्वजन्मों की कथाएं दी गयी हैं। इस तरह व्यवहार और शास्त्र दोनों तरह पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। यह पुनर्जन्म कर्मों के अनुसार सुख या दुःखमय, मनुष्य या मनुष्येतर मिलता है।

यशोदा–आपने कहा कि कर्मों के अनुसार सुखी या दुखी

जन्म मिलता है और ईश्वर उस कर्मफल को देता है। किन्तु हमें तो न तो किसी पूर्वजन्म का स्मरण आता है और न कर्मों का। यदि ईश्वर हमें हमारे किसी कर्मफल के कारण कोई कष्ट दे रहा है तो कम से कम हमें पता तो होना ही चाहिए कि किस कर्म का फल मिल रहा है ? बिना ज्ञान हुए सुधार कैसे किया जा सकता है ?

सुखदा—जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि जीव अल्पज्ञ होने से इस जन्म की तो छोड़िये, एक दिन की बातों का भी स्मरण नहीं कर पाता; फिर पूर्वजन्म का तो स्मरण बहुत कठिन है। यह सभी को पता है कि अच्छे कर्मों का फल सुख और अच्छा जन्म है तथा बुरे कर्मों का फल दुःख और बुरा जन्म है। अनुमान प्रमाण से हमें ज्ञान हो जाता है कि हमें जो दुःख मिल रहा है उस का कारण कोई हमारा बुरा कर्म है । अतः भावी सुख के लिए वैसा कर्म फिर नहीं करना चाहिए।

जैसे रोग हो जाने पर वैद्य सही निदान करके बतला देता है कि क्या अपथ्य हुआ है किन्तु अवैद्य भी इतना तो जान ही लेता है कि मुझ से कोई अपथ्य अवश्य हुआ है। इसी प्रकार योगी या विवेकी पूर्वजन्म को जान लेता है जबकि साधारण व्यक्ति अनुमान कर लेता है कि पूर्वजन्म में मुझ से कुछ दुःखद कर्म हुआ है।

जहां तक प्रत्येक जन्म और उस की प्रत्येक बात स्मरण न रहने की बात है, यह तो प्राणियों के हित और लाभ में है। क्योंकि यदि सब को अपने रिश्ते-नातों का, पूर्व शत्रुओं का, दुःखदायकों का या घृणित जन्मों का स्मरण रहे तो मनुष्य के साथ अनेक कष्ट और लग जायेंगे और वह सुख से नहीं जी पायेगा। घृणित जन्म को याद करके हर समय घृणा की स्थिति बनी रहेगी। इतनी नयी समस्याएं उत्पन्न हो जायेंगी कि उन का समाधान ही सम्भव नहीं हो पायेगा।

मुक्ति कब और कैसे ?

यशोदा—हाँ, यह तो आपकी बात ठीक है कि पूर्वजन्म की स्मृति से भयंकर समस्याएं उत्पन्न होंगी। अच्छा, यह बताइये कि मनुष्य यों ही जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहकर दुःख भोगता रहेगा कि इस से छूटने का भी कोई उपाय है।

सुखदा–हाँ, है।

यशोदा–वह क्या है ?

सुखदा–वह है मुक्ति प्राप्त करना।

यशोदा–मुक्ति क्या होती है ?

सुखदा–जन्म-मरण के चक्र से छूटकर, दु:खों से मुक्त होकर, परमात्मा के आश्रय में आनन्दित रहना 'मुक्ति' कहलाती है।

यशोदा–कितने समय की अवधि मुक्ति का काल होता है ? और क्या जीव फिर इस संसार में आता है ?

सुखदा–एक बार मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीव मुक्ति में ३६००० बार सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय की जो समय-अवधि होती है, उतने काल तक रहता है और ब्रह्म के आश्रय में आनन्द भोगता है। एक सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का काल ४,३२,००,००,००० + ४,३२,००,००,००० = ८,६४,००,००,०००(आठ अरब, चौंसठ करोड़) वर्षों की अवधि का होता है। इस को ३६,००० से गुणा करने पर ३१,१०,४०,००,००,००,००० (इकत्तीस शंख, दस खरब, चालीस अरब) वर्ष मुक्ति का सुख भोगने का काल बनता है। उस के बाद जीव पुनः संसार में आकर शरीर धारण करता है। फिर जैसे कर्म करता है, अग्रिम जन्म या मुक्ति उसी के अनुसार मिलती है। पुण्य कर्मों के द्वारा वह शीघ्र फिर मुक्ति प्राप्त कर सकता है क्योंकि उस के पुराने संस्कार-कर्म नहीं होते।

यशोदा–क्या मुक्ति में शरीर भी साथ जाता है ?

सुखदा–नहीं, शरीर साथ नहीं जाता। केवल आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध गुणों से युक्त होकर ही मुक्ति में जाता है। मुक्त जीव संकल्पमय शरीर से परमेश्वर में विचरते हैं।

यशोदा–फिर जीव आनन्द कैसे भोगता है ?

सुखदा–वह संकल्पमात्र से ही सभी कार्य करता है और आनन्द का अनुभव करता है। जीव को मुक्ति में सांसारिक सुख-दु:ख का स्पर्श भी नहीं होता, वह सदा आनन्द में ही रहता है।

यशोदा–क्या जीव का परमात्मा में लय हो जाता है ? वेदान्ती

मानते हैं कि मुक्ति में आत्मा और परमात्मा मिलकर एक रूप हो जाते हैं।

सुखदा—यह कथन तर्क-प्रमाण विरुद्ध है। जीव स्वतन्त्र, नित्य, अनादि, अनन्त, अजर, अमर है। उस की सत्ता सदा बनी रहती है। यदि जीव परमात्मा में लय हो जाये तो आनन्द का अनुभव कैसे करेगा ? आनन्द का अनुभव तो पृथक् रहकर ही कर सकता है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि जीव लय हो जावे तो धीरे-धीरे जीवों का नाश हो जायेगा और संसार की प्रक्रिया का उच्छेद हो जायेगा। इसलिए सृष्टिक्रमविरुद्ध बात होने से यह कथन मान्य नहीं हो सकता।

यशोदा—मुक्ति एक जन्म में होती है या अनेक जन्मों में ?

सुखदा—मुक्ति कर्मनाश, ईश्वर साक्षात्कार और श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा प्राप्त करता है। ऐसी योगसाधना की उच्चतम स्थिति जब भी प्राप्त हो जाये तभी मुक्ति होती है। साधारणतः यह उच्च स्थिति एक जन्म में नहीं बन पाती। कई जन्मों के प्रयत्न से मनुष्य को सफलता मिलती है।

यशोदा—मुक्ति किन कर्मों से मिलती है ? क्या हमें भी मुक्ति मिल सकती है ?

सुखदा—हाँ, श्रेष्ठ कर्म करते हुए ईश्वर साक्षात्कार और दुष्ट कर्मों का क्षय होने पर प्रत्येक व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मुक्ति प्राप्त कराने वाले कर्म हैं—

अधर्म का त्याग और धर्म का ग्रहण करना। अधर्म अर्थात् अविद्या, कुसंग, व्यसन, अन्याय, पापाचरण, हिंसा आदि का त्याग करना। धर्म अर्थात् सत्यभाषण, सत्यज्ञान, सत्य विचार, न्याय, परमेश्वर की आज्ञा का पालन, उस की उपासना, परोपकार, सुसंगति आदि कर्मों से और योगाभ्यास से मुक्ति प्राप्त होती है। मुण्डकोपनिषद् में मुक्तिप्राप्ति के उपाय व स्थिति इस प्रकार बतलायी है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽऽवरे॥

—मुण्डक० २।२।८॥

अर्थात्–'जब इस जीव के हृदय की अविद्या, अज्ञान, सन्देह आदि की गांठ कट जाती है और सभी प्रकार के अविद्याजन्य संशय मिट जाते हैं तथा सभी दुष्ट कर्मों का क्षय हो जाता है तब वह परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।' इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में भी मुक्ति के उपाय बतलाये हैं–

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

–तैत्तिरीय० २।१॥

अर्थात्–'जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस सर्वव्यापक ब्रह्म में स्थित होकर उस पूर्णज्ञान युक्त परब्रह्म के साथ रहकर पूर्ण आनन्द को प्राप्त करता है अर्थात् जिस-जिस शुद्ध आनन्द की कामना करता है उस-उस को प्राप्त करता है।'

वेद में मुक्ति प्राप्त करने का उपाय ईश्वर-साक्षात्कार को ही बतलाया है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

–यजुर्वेद ३१।१८॥

अर्थात्–'मैंने उस सूर्य के समान स्वज्ञान प्रकाशस्वरूप, अज्ञान-अविद्या से पृथक्, सब से महान् परमात्मा को जान लिया है, उस का साक्षात्कार कर लिया है। यह निश्चित है कि उस ईश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के चक्र से पार पाता है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस के अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

ईश्वर का साक्षात्कार धर्म के मार्ग पर और योग के मार्ग पर चलने से होता है। धर्म सुख का मूल है और अधर्म दुःख का मूल है। जो भी मुक्ति प्राप्त करना चाहता है उसे उक्त मार्ग एवं विधि का अनुसरण करना चाहिए।

यशोदा–बहन, आपने गम्भीर दार्शनिक बातों को बड़ी सरलता से समझाया है और जीवन का कल्याण करने वाले उपाय बतलाये हैं। मैं आपके प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ। कल फिर

मैं आपके सान्निध्य में आकर अन्धविश्वास, भूत-प्रेत आदि धारणाओं की वास्तविकता को जानूंगी। आज चलती हूँ। नमस्ते!

सुखदा—नमस्ते बहन!

आठवां दिन

अन्धविश्वास, भ्रान्तियां और कुरीतियां

यशोदा—बहन सुखदा ! नमस्ते !

सुखदा—नमस्ते बहन! आइये, विराजिये। यह बताइये कि आपके परिवार के अन्य सदस्यों को मेरी बतायी बातों में रुचि बन रही है या नहीं ? क्या वे इन को उचित मान रहे हैं ? और क्या उन का कुछ ज्ञानवर्धन हो रहा है ?

यशोदा—बहन, इन बातों में उन की रुचि दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। उन का ज्ञानवर्धन भी हो रहा है और इन को वे उचित भी मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि तर्क-प्रमाण की दृष्टि से इन को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। किन्तु अभी मन में कुछ बातें हैं जो तर्क और प्रमाण से ऊपर लगती हैं। वे हैं आस्था, श्रद्धा और विश्वास की बातें। कोई किसी बात में आस्था, श्रद्धा, विश्वास रखता है, कोई किसी में। यह हृदय या अन्तःकरण का विषय है, उसी में हृदय की सन्तुष्टि होती है, अन्यथा नहीं।

सुखदा—बहन, तर्क-प्रमाण विरोधी बातों पर श्रद्धा, आस्था, विश्वास करना अज्ञान, अविद्या और भ्रान्ति का परिणाम है और वह अन्धश्रद्धा, अन्धआस्था, अन्धविश्वास है। अज्ञान एवम् अविद्या के कारण मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ धारणाएं मन में स्थापित कर लेता है और उन्हीं को कर्त्तव्य मान बैठता है। कभी-कभी अज्ञात धार्मिक भय को हृदय में बैठा लेता है, कभी स्वार्थ के कारण उन बातों पर आचरण करता है। अन्धविश्वास की बातें कभी भी कल्याणकारी और सत्य फलदायक नहीं होतीं। मनुष्य मन में एक कल्पना कर लेता है कि मैं धर्म का पालन कर रहा हूँ, सही सोच रहा हूँ, सही आचरण कर रहा हूँ, किन्तु वह सही नहीं होता और न ही उस का सत्य फल या पुण्य का फल मिल पाता है। बस, ऐसा व्यक्ति भ्रान्ति में ही

पूरा जीवन बिता देता है। परिणाम की दृष्टि से उस का जीवन निष्फल जाता है।

आप और आपके परिवार के सदस्यों के मन में अभी तक बतायी हुई बातों के विषय में सन्देह है तो इस का मतलब यह है कि अभी तक उन के अन्धविश्वास, अज्ञान, अविद्या, भ्रान्तियां पूरी तरह दूर नहीं हुई हैं। अभी उन को इन बातों पर और चिन्तन-मनन करने की आवश्यकता है। यह सच है कि दृढ़मूल हुए अन्धविश्वास और भ्रम एकाएक नहीं मिटते। प्रयत्न करेंगे तो मिट जायेंगे।

श्रद्धा-अन्धश्रद्धा, विश्वास-अन्धविश्वास का लक्षण

यशोदा—पहले यही समझाने की कृपा करें कि श्रद्धा-अन्धश्रद्धा में, आस्था-अन्धआस्था में, विश्वास-अन्धविश्वास में क्या अन्तर है और भ्रान्ति किसको कहते हैं ?

सुखदा—किसी विचार या व्यवहार के सत्य या सही होने का भरोसा 'विश्वास' कहाता है। आदरपूर्ण विश्वास 'श्रद्धा' कहाती है। किसी के प्रति हृदय में आदरपूर्ण विश्वास को पूर्णता-गम्भीरता के साथ स्थापित कर लेना 'आस्था' कहाती है। इन सब के मूल में 'सत्य' है। जहां सत्य और तर्क नहीं होता ऐसा विश्वास 'अन्धविश्वास', ऐसी श्रद्धा 'अन्धश्रद्धा' और ऐसी आस्था 'अन्धआस्था' कहलाती है। इन का परिणाम सदा हानिकारक होता है। सत्य से रहित होने के कारण व्यक्ति को पुण्य-फल नहीं मिलता और उस से समाज का अधःपतन होता है, उन्नति नहीं। मिथ्या गुरु और नेता उन लोगों को स्वार्थपूर्ति के लिए बहकाते हैं और उन को ठगते हैं। असत्य ज्ञान को 'भ्रान्ति' कहते हैं। जैसे—रस्सी को सांप मान लेना 'भ्रान्ति' है। पत्थर की जड़ मूर्ति को भगवान् या देवता मान लेना 'अन्धविश्वास' और 'भ्रान्ति' है। भूत-प्रेत के न होते हुए भी उन का अस्तित्व मानना 'अन्धविश्वास' है। आदर के अयोग्य, गुण-योग्यताहीन व्यक्ति में आदर का भाव करना 'अन्धश्रद्धा' है, जैसे अयोग्य गुरु। आदर और विश्वास के अयोग्य किसी विचार को मन में आदरणीय और विश्वसनीय रूप में स्थापित कर लेना 'अन्धआस्था' है, देवी-देवताओं का काल्पनिक व्यक्तित्व या तीर्थ-व्रत आदि का सेवन,

गंगा स्नान आदि।

यशोदा—आप तो फिर किसी भी बात को नहीं मानतीं ? जबकि अधिकतर लोग इन बातों को मानते हैं।

सुखदा—यह भी आपकी भ्रान्ति है। मैं उन सब बातों को मानती हूँ जो सत्य ज्ञान और तर्क-प्रमाण पर आधारित हैं। मैंने आपको गत दिनों की चर्चा में कितनी सारी बातें बतायी हैं। मैं उन सब को मानती हूँ। ईश्वर, जीव, प्रकृति, सन्ध्या-उपासना, यज्ञ, धर्म, माता-पिता की सेवा, अतिथियों की सेवा, योग्य जनों का सम्मान, सुपात्रों को दान, भूखे को भोजन-वस्त्र देना, सत्संग आदि सभी अच्छी बातों को मानती हूँ। हाँ, जो मिथ्या बातें हैं, मैं उन्हें नहीं मानती। आपको भी वे नहीं माननी चाहिएं, किसी को भी नहीं माननी चाहिएं, क्योंकि उन के मानने से हानि ही हानि और पतन ही पतन है।

क्या भूत-प्रेत होते हैं ?

यशोदा—आप कहती हैं कि भूत-प्रेत नहीं होते जबकि दुनिया उन को मानती है। बहुत लोग कहते हैं कि हम ने देखे हैं। उन का आकार-प्रकार भी बताते हैं। कितने ही पुरुषों और स्त्रियों में भूत-प्रेत, चुड़ैल-डायन आ जाती है और उन्हें परेशान करती है। जब ओझा-तान्त्रिक उस को भगाते हैं तो वे चले जाते हैं। फिर भी आप कहती हैं कि भूत-प्रेत नहीं होते ?

सुखदा—भूत-प्रेत, डायन-चुड़ैल नाम के ज्ञात-अज्ञात, सूक्ष्म- स्थूल, आकृति या बिना आकृति के कोई प्राणी दुनिया में नहीं होते। ये सब कोरी कल्पनाएं हैं। जब मनुष्य मर जाता है तो उस के मृत शरीर का नाम 'प्रेत' है और मृत्यु होने के बाद उस को 'भूत' कहते हैं अर्थात् जो बीत गया। इसी को उर्दू-फारसी में 'गुज़रा हुआ' या 'गुज़र गया' कहते हैं। ये संस्कृत भाषा के शब्द हैं। 'भूत' शब्द आज भी बहुत शब्दों-वाक्यों में इसी अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, जैसे-भूतकाल, भूतपूर्व मन्त्री, भूत=जो बीत गया आदि। इसलिए भूत-प्रेत नामक प्राणियों की कल्पना, केवल कल्पना है और मिथ्या है। मनुष्य भय के कारण, डाले गये संस्कारों के कारण भूत-प्रेत की काल्पनिक सत्ता बना लेता है और डरता रहता है। आप देखिए कभी-कभी व्यक्ति भय के कारण जब रात के अन्धेरे

में एकाकी होने के कारण डरता है तो उस की आंखों के सामने वैसी ही काल्पनिक आकृतियां दिखायी पड़ने लगती हैं, स्वप्न में वैसे ही दृश्य देखकर डर जाता है, मार्ग में पेड़-पौधे भी आदमी, पशु जैसे लगते हैं। इसी प्रकार कमजोर और कोमल मन वाले पुरुष तथा स्त्रियां किसी मानसिक दबाव के कारण या डर कर मानसिक रोगी हो जाते हैं और हिस्टीरिया, मूर्च्छा जैसे रोगों में अण्ट-शण्ट बकते हैं। होता है वह कोई मानसिक रोग किन्तु भ्रान्ति से उसे कहते हैं भूत-प्रेत आदि।

आज तक किसी ने भी भूत-प्रेत, चुड़ैल-डायन को नहीं देखा है। जो देखने की कहते हैं वे मिथ्यावादी हैं। कभी-कभी श्मशान में कुछ दिखायी देता है तो वह तान्त्रिकों द्वारा बहकाये गये स्त्री-पुरुष होते हैं, जो उन के बहकावे में आकर कुछ टोना-टोटका करते हैं। कई बार ऐसे लोग पकड़ लिये गये हैं।

जो तान्त्रिक या ओझा भूत-प्रेत, चुड़ैल-डायन आदि निकालने की बात करते हैं, वह भी उन का कोरा ढोंग-पाखण्ड है। वे लोग स्वार्थ और पेट भरने के लिए ढोंग रचते हैं, लोगों को बहकाते हैं और अपना स्वार्थ पूरा करते हैं। मूर्ख लोग उन के बहकावे में आते हैं, बुद्धिमान् नहीं। आज ऐसे कितने ही लोग जेलों में पड़े हैं वहां उन का सारा पाखण्ड धरा रह गया। वे अपने को ही सुखी नहीं रख सके, दूसरों को सुखी कैसे कर सकेंगे? इसलिए यह एक भ्रम है। जो जितना शीघ्र इस भ्रम को निकाल देगा, उतना शीघ्र सुखी होगा। जब तक भ्रम में रहेगा दुःख पाता रहेगा। फिर वह न सपने में डरेगा, न मानसिक रोगी होगा और न रात के अन्धेरे या एकान्त में डरेगा, और न डर से उस का हृदय कमजोर होगा। इस प्रकार इस भ्रान्ति को मन से निकालने में लाभ ही लाभ है।

शकुन-अपशकुन

यशोदा—यह भ्रान्ति तो वास्तव में बहुत हानिकारक है। क्या शकुन-अपशकुन मानना भी गलत है ? और क्या बिल्ली द्वारा रास्ता काटना, किसी जाति विशेष के आदमी के दर्शन से काम बिगड़ना या बनना आदि बातें सत्य नहीं हैं ?

सुखदा—नहीं, ये भी भ्रान्ति-अज्ञान से उत्पन्न अन्धविश्वास

हैं। प्रकृति के पदार्थ गुण या बाह्य प्रभाव की दृष्टि से तो अपना प्रभाव डालते हैं किन्तु भावनात्मक या पाप-पुण्य के रूप में नहीं। पशु मनुष्य के भावी कर्मों के ज्ञाता या भाग्यविधाता नहीं हो सकते और न ही दर्शनमात्र से कोई मनुष्य किसी का काम बना या बिगाड़ सकता है। बिल्ली आदि प्राणी मनुष्य के साथ रहने वाले हैं वे गतिशील हैं, इसलिए इधर-उधर घूमेंगे ही। किसी के आगे से जायेंगे, किसी के पीछे से, किसी के अगल-बगल से। इस से भाग्य या शकुन-अपशकुन का कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं। न इसमें कोई वैज्ञानिक सत्य है। जैसे मनुष्य इधर-उधर आता-जाता है वैसे ही सभी प्राणी आते-जाते हैं। यदि बिल्ली आदि एकाध प्राणियों का शकुन-अपशकुन मानते हैं तो अन्य सैकड़ों पशुओं, कीट-पतंगों का भी प्रभाव मानो, जो मनुष्य के घरों में आसपास रहते हैं ?

इसी प्रकार सभी मनुष्यों की एक मनुष्य जाति है। मनुष्य में छोटी-बड़ी जातियों की कल्पना ईश्वरीय नहीं, मनुष्यकृत है, जो कि मिथ्या है। अत: वह भी कोरा अन्धविश्वास है। इसी तरह विभिन्न प्राणियों के रोने आदि से शकुन-अपशकुन का मानना भी अज्ञान और अन्धविश्वास है। जैसे मनुष्य रोता है, ऐसे ही वे भी अपने दु:ख में रोते हैं, या फिर प्राकृतिक उथल-पुथल का आभास पाकर असामान्य चेष्टाएं करते हैं, शुभ-अशुभ या पाप-पुण्य फल के लिए नहीं।

जादू-टोना

यशोदा—तान्त्रिक लोग जादू-टोना आदि करके किसी का भला या बुरा कर देते हैं। इसी प्रकार मन्त्रसिद्ध कण्ठी, माला, अंगूठी, ताबीज आदि के धारण से जीवन की रक्षा और रोगों से बचाव हो जाता है। क्या यह भी मिथ्या है ?

सुखदा—हां, यह भी मिथ्या है। कोरा अन्धविश्वास है। यदि इन से जीवन की रक्षा होने लगे तो कोई कभी भी न मरे। न किसी की अकाल मृत्यु होवे। इसी तरह किसी को रोगी भी नहीं होना चाहिए। फिर तो न डाक्टरों-वैद्यों की जरूरत है, न अस्पतालों की ? ऐसे लोग मनुष्य होकर भी कितनी भ्रान्ति के अन्धकार में पड़े हैं ! हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि इन बातों को मानने वाले

और धारण करने वाले लोग मरते भी हैं और भयंकर रोगी भी होते हैं। प्रत्यक्ष देखकर भी भ्रान्ति में पड़ना मूर्खता का लक्षण है। और फिर यह भी तो सोचना चाहिए कि जो लोग दूसरों के लिए जादू-टोना करते हैं, मन्त्रसिद्ध वस्तुएं देते हैं, वे स्वयं निर्धन, दुर्दशाग्रस्त, अकालमृत्युग्रस्त और रोगों से ग्रस्त होते हैं। वे स्वयं को ही सुरक्षित और सुखी नहीं कर सकते तो दूसरों को क्या करेंगे ?

जादू-टोने का कोई प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। यदि यह पड़ता होता तो किसी शस्त्र-अस्त्र आदि की जरूरत नहीं होती, सारे काम और आक्रमण जादू-टोने से ही हो जाते ? स्पष्ट है कि तान्त्रिक लोग लोगों को अपने स्वार्थ और पेट के लिए मूर्ख बनाते हैं और ठगते हैं।

ग्रह-नक्षत्र-राशि और जन्मपत्री

यशोदा—क्या ग्रह, नक्षत्र, राशियों का प्रभाव भी नहीं पड़ता? ज्योतिषी लोग ग्रह-नक्षत्र, राशि का शुभ-अशुभ फल बताते हैं, जन्मपत्र बनाते हैं, ग्रहण आदि के समय तीर्थस्थान करने से उस का दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। ज्योतिषी विद्वानों की ये बातें तो सत्य होंगी ?

सुखदा—तथाकथित ज्योतिषी ग्रह-नक्षत्रों, राशियों का मायाजाल फैलाकर लोगों को भ्रमित और भयभीत करके उन्हें लूटते हैं। जन्मपत्र एक अनुमान मात्र है जो कभी सही तो अधिकांश गलत निकलता है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि वह जन्मपत्र नहीं शोकपत्र है। उस को पढ़कर पुत्र के उत्पन्न होने पर घर में जो खुशियां पैदा हुई थीं वे नष्ट हो ज़ाती हैं। ज्योतिषी क्रूर ग्रहों का भय दिखाकर खूब पैसे लूटते हैं। बहुत-से लोग जन्मपत्र में लिखे वचनों को पढ़कर, निराश हो, परिश्रम करना छोड़कर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाते हैं। वे इसलिए परिश्रम नहीं करते कि भाग्य में तो पढ़ना-लिखना, धनाढ्य बनना लिखा ही नहीं है। जब भाग्य में ही नहीं तो परिश्रम से क्या लाभ ? यदि कोई हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर भेंट-पूजा देकर अच्छी जन्मपत्री बनाने को कहता है तो ज्योतिषी उस को बदल देता है और कहता है मैंने क्रूर ग्रह शान्त कर दिये, जैसे वही सारे ग्रहों का संचालक हो। करोड़ों मील दूर प्राकृतिक वस्तुओं पर उस का कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता। यह

सब ठगी और धोखा है।

ग्रह-नक्षत्र, राशि आदि प्राकृतिक पदार्थ हैं। उन का बाह्य प्रभाव शीत-उष्ण, प्रकाश-अन्धकार आदि के रूप में तो पड़ता है किन्तु भावनात्मक या पाप-पुण्य के रूप में नहीं। वे जड़ वस्तुएं हैं। ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन अपने अक्ष और परिधि में घूम रहे हैं। गति करते हुए जब वे एक-दूसरे के सामने आ जाते हैं तो एक की दूसरे पर छाया पड़ती है उसी का नाम 'ग्रहण' रखा हुआ है। यह 'ग्रहण' अन्तरिक्ष में किसी न किसी ग्रह-नक्षत्र की गति में प्रतिपल होता रहता है। इस तरह तो प्रतिपल ही अशुभ होना चाहिए ? हमें कुछ ग्रहण दिखायी दे जाते हैं, उन के विषय में हम भ्रम और भय फैला देते हैं। यह तो एक प्राकृतिक व्यवस्था है इस में न शुभ है, न अशुभ। सभी प्राकृतिक पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं और इसलिए शुभ हैं। ग्रहण के समय ज्योतिषी ब्राह्मणों को दान देने की बात कहते हैं। उन का यह अपना पेट पालने का एक धोखाधड़ी भरा तरीका है। और फिर दान ब्राह्मणों को ही क्यों दे ? किसी को भी दान देना अच्छा काम है। यह सब ब्राह्मणों द्वारा फैलाया गया मिथ्या जाल है। दान का और जड़ वस्तुओं का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं। धरती पर दिये हुए दान का लाखों-करोड़ों मील अन्तरिक्ष में क्या प्रभाव पड़ सकता है ? क्या ग्रहों-उपग्रहों में उस दान से बदलाव आ जायेगा ? यदि नहीं, तो फिर स्नान-दान का उन से क्या सम्बन्ध है ? इसी प्रकार उस समय तीर्थस्थान करने से भी कुछ फल नहीं होता। स्नान करने का फल है—शरीर की स्वच्छता होना। वह घर पर ही किया जा सकता है। शरीर का मैल धोने न धोने से ग्रह-उपग्रह का कोई अच्छा-बुरा सम्बन्ध नहीं है। अपितु किसी एक तालाब के स्थिर पानी में हजारों-लाखों लोगों द्वारा स्नान करने से मैल ही बढ़ता है और संक्रामक रोग होने का खतरा रहता है। अतः ऐसा तीर्थ पुण्यदायक नहीं, रोगदायक है।

तीर्थ और नदी स्नान से पुण्य

यशोदा—तीर्थ-स्थानों पर जाकर प्रवाहित जल वाली गंगा-यमुना आदि नदियों में स्नान करने में तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ? इस तरह मैल से रोगों का भय भी नहीं होगा और

तीर्थस्थान का पुण्य भी मिलेगा तथा पाप भी नष्ट हो जायेंगे ?

सुखदा—प्रवाहित जल वाली नदियों में स्नान करना किसी भी प्रकार से आपत्तिपूर्ण नहीं है। आपत्ति तो इस के मूल में निहित अन्धविश्वास की भावना में है। किसी नदी के एक विशेष स्थान को तीर्थ मानकर किसी नदी को पवित्र और पुण्यदायक मानना और वहां नहाने से पापों का क्षय मानना, ये अन्धविश्वास और भ्रान्तियां हैं। प्रकृति के सभी हानिरहित स्थान एक जैसे हैं, सभी उत्तम जलवाली नदियां एक जैसी हैं। उन में पवित्रता-अपवित्रता और पाप-पुण्य की भावना करना अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा है। जल का स्वभाव, प्यास बुझाना और शरीर के बाह्य मैल को साफ करना है, उस का पाप-पुण्य रूप आत्मा के कर्मों से क्या सम्बन्ध ? इस अन्धविश्वासी विचारधारा के प्रचार से समाज को भारी नुकसान हो रहा है। लोगों ने इसे पाप करने का 'लाइसेंस' बना लिया है। सारे साल भर पाप करो और साल में एक-दो दिन कहीं जाकर नहा आओ, पाप नष्ट हो जायेंगे।' यह विचारधारा लोगों में पापों-अपराधों को बढ़ा रही है। पण्डे-पुजारियों ने अपने स्वार्थ के लिए लोगों को कुछ स्थानों पर बुलाना प्रारम्भ कर दिया ताकि कुछ दिनों में उन की इतनी आमदनी हो जाये कि साल भर ठाठ से गुजारा हो जाये। वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि पाप का फल न तो नष्ट होता है और न मन के पाप जल जैसी स्थूल वस्तु से प्रभावित होते हैं।

यदि पाप फल नष्ट होते तो तथाकथित तीर्थों में रहने वाले लोग और पण्डे-पुजारी, जो कि प्रतिदिन उसी जल से स्नान करते हैं, उसी को पीते हैं, उसी से घर-वस्त्र की सफाई करते हैं, उसी से मैल और मल भी धोते हैं, उन को तो जीवन में एक भी दुःख नहीं होना चाहिए। दुःख-प्राप्ति, पाप का फल होता है। यदि उन के पाप प्रतिदिन नष्ट हो जाते तो उन्हें कोई भी दुःख न होता। किन्तु देखने में आता है कि वे भी अन्यस्थान निवासियों के समान दुःखी, महादुःखी और रोगपीड़ित हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान होता है कि तीर्थस्थान और उस से पापक्षय बतलाना एक बहकावा है। पाप से बचने का एकमात्र उपाय धर्माचरण है। उसी का फल सुख है। महर्षि मनु ने कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति॥

—मनु० ५।१०९॥

अर्थात्—'जल से शरीर के अंग शुद्ध होते है। मन तो सत्य भाषण, सत्याचरण से शुद्ध होता है। इसी को धर्म कहते हैं।'' एक कवि ने इस अन्धविश्वास पर बहुत सुन्दर तर्क किया है—

गंगा के नहाये से जो नर तरि जात हैं तो।
मीन क्यों न तरै जाको गंगा में ही घर है॥

साधारण भाषा में कितनी तर्कयुक्त बात कही है। यदि गंगा आदि में नहाने से मुक्ति मिलती हो या पाप कटते हों तो पहले मछली, मगरमच्छ, कछुए आदि के पाप कटने चाहिएं, जो सारे समय सदा उसी का पानी पीते हैं। तटवासी लोग और जानवर सदा उसी का पानी पीते हैं, उसी में नहाते हैं, फिर भी दुःखी हैं। इन बातों सें पता चलता है कि यह सब लोगों को ठगने के लिए जाल फैलाया हुआ है।

जब तक हमारे देश के लोग ऐसे अन्धविश्वास से नहीं बचेंगे तब तक वास्तविक उन्नति सम्भव नहीं।

देवी-देवताओं की कल्पना और पूजा

यशोदा—मूर्तिपूजा के माध्यम से देवता और देवियों की पूजा करना एक प्राचीन परम्परा रही है। देवी-देवताओं और भगवान् को इस प्रकार याद करना कोई गलत बात नहीं लगती। हिन्दू शास्त्रों में तो तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा का उल्लेख आता है। आप इस का भी खण्डन क्यों करती हैं?

सुखदा—भगवान् को किसी भी तरह स्मरण करना अच्छी बात है। किन्तु जड़ पत्थर की मूर्ति को भगवान् मानना मिथ्या ज्ञान है। इस में चेतन भगवान् को जड़ रूप में मानने से उस का अपमान तो है ही, साथ ही भ्रान्ति फैलाकर लोगों को अज्ञान के गर्त में डालना भी है। भगवान् एक सत्य सत्ता है, उसे असत्य बनाना पाप है। उस पाप को पूजा कैसे माना जा सकता है? जो भगवान् निराकार, सर्वव्यापक है उस की मूर्ति कभी भी नहीं बन सकती। सर्वव्यापक की मूर्ति की कल्पना करना उस का निरादर है और भ्रान्तिजनक भी। जो पूजा भ्रान्ति से ही आरम्भ की जा रही है,

उस से सत्यफल क्या मिलेगा ? गत 'ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना' विषयक चर्चा (अ० ५) में इस विषय पर विस्तार से समझा चुकी हूँ कि इस से हानियां ही हानियां हैं, लाभ कोई नहीं।

मूर्तिपूजा भारत की प्राचीन परम्परा नहीं है। यह केवल दो-अढ़ाई हजार वर्ष पुरानी परम्परा है। अतः इस परम्परा को नवीन ही कहना चाहिए। पुरानी परम्परा तो हृदय में ध्यान-उपासना और यज्ञ करने की है। वास्तव में 'देवपूजा' का अर्थ ही 'देव अर्थात् एकमात्र ईश्वर की उपासना' है। देवपूजा का 'देवी-देवताओं की पूजा' अर्थ तो विकृत और नवीन है। देखिए यज्ञ का एक नाम देवयज्ञ है अर्थात् यज्ञ के द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती है, इसलिए उस का नाम देवयज्ञ है। यज्ञशाला का नाम 'देवालय' मिलता है।

यह कथन भी गलत है कि देवता तैंतीस करोड़ हैं। ऐसा कथन किसी मूर्ख द्वारा फैलायी भ्रान्ति का परिणाम है। शतपथ ब्राह्मण में वचन आता है-**"त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवताः"** (शतपथ० १५।१६।५) यहां कोटि का अर्थ प्रकार है। उस के अनुसार देवता तैंतीस प्रकार के हैं, यह अर्थ होगा। आगे वे इस प्रकार गिनाये हैं-८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य, इन्द्र=जीवात्मा और प्रजापति=परमात्मा, ये ३३ हुए। किसी मूर्ख ने 'कोटि' शब्द का करोड़ अर्थ करके प्रचारित कर दिया। अशिक्षित लोग बहकावे में आ गये। उन में यह प्रचार फैलता गया। इस तरह यह भ्रान्ति पनपी। आप विचार करके देखिए कि कहीं तैंतीस करोड़ की सूची है ? कहीं नहीं है। और क्या तैंतीस करोड़ की गणना करना सम्भव है ? यह समझ लीजिए कि वे सब गप्पें हैं।

उक्त तैंतीस देवताओं में पूजा अर्थात् उपासना के योग्य केवल परमात्मा को ही माना गया है। बाकी जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि महापुरुष हुए हैं उन का स्मरण कर उस के अनुसार चलना तो अच्छी बात है किन्तु वे पूजा करने योग्य भगवान् नहीं कहला सकते। इसी प्रकार लक्ष्मी, दुर्गा आदि नारियां भी भगवान् की शक्तिरूप देवियां नहीं हैं। पहले मैं बता चुकी हूँ कि निराकार भगवान् का न तो अवतार सम्भव है और न उस सर्वशक्तिमान् को

किसी अवतार में आने की आवश्यकता है। अतः पूजा-उपासना करनी है तो सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की अपने हृदय में कीजिए। उसी का फल 'मुक्ति' के रूप में मिलेगा, अन्य भ्रान्ति-पूर्ण उपासना-पूजा का फल भ्रान्ति और अज्ञान के रूप में ही मिलेगा।

इस विषय को समझाने के लिए एक रोचक दृष्टान्त प्रसिद्ध है-

दृष्टान्त-एक विचारशील आर्य लड़की थी। उस ने तर्कपूर्ण पद्धति से शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। उस का विवाह एक मूर्तिपूजक परिवार में हो गया। उस ने मन ही मन निश्चय किया कि किसी भी उपाय से मैं अपनी ससुराल से इस अज्ञान और पाखण्ड को दूर करूंगी। जब वह पहली बार बहू बनकर ससुराल गयी तो उसे एक सुन्दर अवसर मिल गया। घर के आंगन में कुछ जानवरों की मूर्तियां सजा रखी थीं। डोली से उतारकर जब सास उस को लेकर चली तो आंगन के द्वार पर दो बिल्लियों की मूर्तियां सजी देखीं। वह उन को देखकर ठिठक गयी।

'क्या बात है बहू ?' सास ने पूछा।

'मां जी, आगे बिल्लियां है।' बहू ने डरते हुए से उत्तर दिया।

सास ने कहा-'अरी बहू, ये तो पत्थर की बनी बिल्लियाँ हैं। ये काट थोड़े ही सकती हैं ? बड़ी डरपोक है, बेकार डरती है ? चल, आगे बढ़।'

कुछ दूर चलने पर देखा कि शेरनी की मूर्ति मुंह खोले खड़ी है। उसे देखकर वह फिर ठिठक गई। सास ने पूछा अब क्या हुआ ? 'मां जी, सामने शेरनी की भयंकर मूर्ति है। ऐसा लगता है जैसे अभी खा डालेगी।' बहू ने घबराते हुए उत्तर दिया।

'अरी पगली, कहा ना, ये पत्थर की मूर्तियां हैं। ये किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। इनमें कोई समझ थोड़े ही है ? बेजान मूर्तियों से क्या डरना ? यह कहते हुए सास बहू को आगे बढ़ाते हुए घर में ले गयी।

कुछ देर बैठने के बाद सास ने कहा-'बहू, चलो पहले घर की रस्म पूरी करो। हमारे घर में देवियों की मान्यता है। यह कहकर सास बहू को घर के मन्दिर की ओर ले गयी। वहां देवी की मूर्ति

सजी थी। कहा-'लो बहू, इस के चरणों में भेंट चढ़ाओ और आशीर्वाद लो। तुम इस से सच्चे मन से बेटा मांगोगी तो यह तुम्हें बेटा देगी। चलो, इस के चरणों में शीश नवाओ।'

बहू बिना किसी प्रतिक्रिया के ज्यों की त्यों देखती खड़ी रही। वह मूर्ति की ओर न झुकी और न भेंट चढ़ायी।

'क्या बात है बहू ? देवी के चरणों में शीश नवाकर आशीर्वाद क्यों नहीं लेती ?' सास ने कुछ रुष्ट होते हुए पूछा। बहू ने विनम्रता के साथ कहा-'मां जी, अभी आप कह रही थीं कि पत्थर की बिल्ली और शेरनी कुछ नहीं कर सकतीं। ये बेजान मूर्तियां हैं। बेजान मूर्तियां न किसी का भला कर सकती हैं और न किसी का कुछ बिगाड़ सकती हैं। फिर यह पत्थर की मूर्ति किसी को आशीर्वाद या बेटा कैसे दे सकती है?'

बहू का तर्कपूर्ण प्रश्न सुनकर सास को कुछ उत्तर नहीं सूझा और वह निरुत्तर हो गयी।

''कहती तो ठीक हो, बहू।'' सास ने गम्भीर होकर कहा।

सास को इस छोटी-सी घटना से समझ में आ गया कि मूर्ति में देवी-देवता की मान्यता कोरी कल्पना और अन्धविश्वास है। जड़ वस्तु किसी को क्या दे सकती है ?

उस दिन के बाद उस ने मूर्तिपूजा को त्याग दिया और परमेश्वर की स्तुति-उपासना अपने अन्तःकरण में करने लगी।

मृत पितरों का श्राद्ध

यशोदा-अच्छा, मृत पितरों का श्राद्ध करना तो ठीक है ? वैदिक परम्परा में पितृयज्ञ का तो उल्लेख भी आता है। क्या इस में भी कोई तर्क-प्रमाण विरुद्ध बात है ?

सुखदा-देखिये, वैदिक पितृयज्ञ का अर्थ और उद्देश्य है-जीवित माता-पिता आदि बड़ों की श्रद्धापूर्वक सेवा-संभाल करना और अन्न-जल, वस्त्र आदि से उन का तर्पण=सन्तुष्टि करना। पितृ से पितर बनता है और इस का अर्थ है-पिता-माता आदि। मृत पितरों का श्राद्ध और तर्पण एक पौराणिक कल्पना है जो अज्ञान और अन्धविश्वास पर आधारित है तथा तर्क-प्रमाण विरुद्ध है क्योंकि मरे हुए पूर्वज कहां हैं, किस अवस्था में हैं,

किसी को पता नहीं। तो पहली बात यह है कि उन की क्या सेवा होगी और क्या तर्पण होगा, जिनका कुछ अता-पता ही नहीं। दूसरी बात यह है कि श्राद्ध के नाम पर रखा गया भोजन किसी भी तरीके से उन तक नहीं पहुंच सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आज तक किसी को नहीं पहुंचा। उस भोजन को या तो चींटी, चूहे, पक्षी आदि खा जाते हैं अथवा वह सड़-सूख जाता है। जो कोई कहे कि कौआ आदि पक्षियों के माध्यम से उन तक जाता है। क्या कौआ बुद्धियुक्त मनुष्यों से भी बुद्धिमान् हो गया? मनुष्यों को तो अपने मृत पूर्वजों का अता-पता नहीं और एक अपवित्र पक्षी को पता है! वाह, कल्पना भी कितनी मूर्खतापूर्ण की है। एक पक्षी को ईश्वर या पूर्वजों का प्रतिनिधि मान लिया? यह बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो और क्या है? शास्त्रों में तो जिस श्राद्ध का आदेश है वह प्रतिदिन का है, जो जीवित माता-पिता के साथ ही सम्भव है-

कुर्यादहरहः श्राद्धम्, अन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि, पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥

—मनुस्मृति ३।८२॥

अर्थात्—'गृहस्थ माता-पिता आदि से प्रेम रखते हुए प्रतिदिन उन का अन्न, जल, दूध, मूल, फल से श्राद्ध करे अर्थात् श्रद्धापूर्वक सत्कार करे।' यही वास्तविक श्राद्ध और तर्पण है। उसी से सेवा का पुण्य फल मिलेगा, माता-पिता का ऋण उतरेगा। मृतकों का श्राद्ध करना बुद्धि की मृत्यु करना है।

दृष्टान्त—मृतक माता-पिता, पितामह आदि का श्राद्ध और तर्पण करने के नाम पर स्वार्थी पण्डित कैसे ठगते हैं और उन ठगों के साथ कैसा बर्ताव होना चाहिए, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत दृष्टान्त शिक्षाप्रद है।

एक चौधरी था। उस के घर एक सुन्दर गाय थी जो बीस सेर के लगभग दूध देती थी। स्वार्थी कुलपुरोहित की उस पर नजर थी। वह उस को ठगने के उपाय सोचता था किन्तु बात नहीं बनी। कुछ समय बाद चौधरी के पिता का देहान्त हो गया। पुरोहित ने मरण-सम्बन्धी कर्म कराये और फिर गोदान करने के लिए कहा। चौधरी ने गोदान के लिए कुछ रुपये रख दिये। पुरोहित ने कहा कि पैसे नहीं, साक्षात् गोदान करो। चौधरी कुछ हिचकिचाया।

पुरोहित ने सभी सम्बन्धियों के बीच चौधरी को कड़वी बातें कहीं कि तुम अपने पिता को स्वर्ग नहीं पहुंचाना चाहते। गाय के बिना तुम्हारा पिता वैतरणी पार कर स्वर्ग नहीं पहुंच सकता। तुम्हारी श्रद्धा में कमी है, आदि-आदि। लोगों के कहने पर चौधरी चुप हो गया और पण्डित ने अपनी ओर से चौधरी द्वारा गोदान में गाय देने की घोषणा कर दी। सारा क्रिया-कर्म पूरा होने के बाद पुरोहित बछड़े सहित गाय को खोल ले गया।

तेरहवीं तक चौधरी ने जैसे-तैसे मांग-खरीदकर दूध का काम चलाया। आखिर दुखी होकर चौदहवें दिन चौधरी पुरोहित के घर पहुंचा। देखा कि पुरोहित ने दूध निकाला ही था और दूध की बाल्टी भरी थी।

पुरोहित ने चौधरी को आया देखकर कहा—आइये यजमान, बैठिये। कैसे आना हुआ ?

चौधरी खाट पर बैठ गया और कहा—'पुरोहित जी ? आप तो बहुत झूठे हो।'

'कैसे ?' पुरोहित ने पूछा।

चौधरी बोला—'आप कह रहे थे कि यह गाय मेरे मृत पिता को वैतरणी पार कराके स्वर्ग पहुंचायेगी। तुम तो इसे अपने घर रखे हुए हो और मजे से दूध पी रहे हो। मेरे बच्चे घर में रूखा-सूखा खा कर गुजारा कर रहे हैं। इस गाय के बिना मेरे पिता जी ने तो वैतरणी में गोते खाये होंगे।'

'चौधरी, तुम समझे नहीं। इस दान के प्रभाव से स्वर्ग में दूसरी गाय बन गयी होगी और उस ने तुम्हारे पिता को पार उतार दिया समझे।' पुरोहित ने गप्प हांकी।

'अच्छा, यह बताओ, वह वैतरणी नदी यहां से कितनी दूर और किस दिशा में है ? चौधरी ने पूछा।

'अनुमान से कोई तीस करोड़ कोस दूर है और दक्षिण नैर्ऋत्य दिशा में है।'

'इतनी दूर जाने-आने या समाचार पाने का तुम्हारे पास क्या साधन है ? तेरह दिनों में तुम वहां तक कैसे गये-आये? तुम्हें क्या पता कि वहां वैतरणी नदी है ? और तुम्हें कैसे पता चला कि वहां दूसरी गाय अपने आप बन गयी और उस ने मेरे पिता को पार कर

दिया होगा ?" चौधरी ने एक साथ कई सवाल कर दिये।

पुरोहित घबराते हुए बोला–'यह सब हमारे गरुड़ पुराण में लिखा है। इस के सिवाय हमारे पास और कोई सबूत नहीं।'

'ये पुराण वगैरह तुम्हारे स्वार्थी पूर्वजों ने अपने स्वार्थ पूरा करने के लिए और श्राद्ध के नाम पर लोगों को ठगने के लिए लिखे हैं, सारी गप्पें हैं। जब तक मेरे पिता जी का स्वर्ग से सन्देश नहीं आयेगा कि मेरे दान की गाय ने उसे स्वर्ग पहुंचा दिया है, तब तक यह गाय मेरे घर रहेगी। तुम ने तो यह नीति अपना रखी है–

दुनिया ठगो मक्कर से, रोटी खाओ शक्कर से।'

यह कहकर चौधरी ने गाय खोली और दूध की बाल्टी उठाकर घर आ गया। पुरोहित ने उसे अन्धविश्वास के आधार पर बहुत ठगने की कोशिश की और कहा कि 'दान देकर वापस लेने वाले का सत्यानाश होता है।' तब चौधरी ने कहा–'चुप रह, नहीं तो तेरह दिन का दूध का खर्चा भी वसूल कर लूंगा।' तब ठग पुरोहित चुप हो गया। चौधरी गाय लाकर आनन्द से घर में रहने लगा। जो अन्धविश्वास में नहीं पड़ता वह चौधरी की तरह सुखी रहता है।

स्वर्ग और नरक

यशोदा–जब आप भ्रान्तियों का निवारण कर ही रही हैं तो स्वर्ग–नरक के विषय में भी सही स्थिति बता दीजिए। क्या स्वर्ग और नरक वास्तविक लोक या स्थान हैं ? यदि नहीं हैं तो बार–बार यह क्यों कहा जाता है कि 'स्वर्ग में जायेगा', 'नरक में जायेगा' आदि ?

सुखदा–स्वर्ग और नरक का अर्थ है–सुख और दुःख। इस या परजन्म में सुखप्राप्ति होना स्वर्ग है और दुःख प्राप्ति होना नरक है। इसी लोक में या जीवन में स्वर्ग और नरक मिलते हैं। इस नाम के पृथक् स्थान ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं हैं। 'स्वर्ग में जायेगा' 'नरक में जायेगा' जैसे प्रयोग आलंकारिक हैं और यह वाक्य प्रयोग की एक शैली है। व्यवहार में भी आप ध्यान दें तो आपको यही बात दिखायी पड़ेगी। जब कोई व्यक्ति बहुत दुःखी होता है तो पूछने पर कहता है–'नरक में पड़ा हूँ', 'नरक भोग रहा हूँ, आदि। जब

बहुत सुखी होता है तो कहता है–'स्वर्ग में हूँ' 'स्वर्ग के दिन काट रहा हूँ' आदि। इस से अधिक इस विषयक बातें केवल कल्पनाएं हैं।

अच्छा-बुरा समय

यशोदा–लोग कई बार कहते हैं–'समय अच्छा है, बुरा है; समय जैसा करेगा, वैसा होगा; समय की लीला है आदि। क्या समय मनुष्य को नियन्त्रित करता है ? या फल देता है ?

सुखदा–यह भी केवल प्रयोग शैली है। जो लोग समय को नियन्त्रणकर्त्ता मानते हैं, वे अज्ञानवश ऐसा कहते हैं। क्योंकि समय तो जड़ है और जड़ पदार्थ न तो कुछ कर सकता है और न मनुष्य के कर्मफल को नियन्त्रित कर सकता है। जो कुछ करता है वह स्वयं मनुष्य करता है। समय पर तो उस बात को अज्ञानवश थोप देता है। समय प्रकृति की प्रक्रिया है जो अबाधगति से चलता रहता है। उस में न कुछ अच्छा है, न बुरा; न शुभ है और न अशुभ। सब समय, सब मुहूर्त, सब दिन एक समान हैं। शुभ-अशुभ की भावना मनुष्य की अपनी कल्पना है।

मुहूर्त्त निकलवाना

यशोदा–क्या किसी व्यापारिक काम या विवाह आदि अनुष्ठान के लिए मुहूर्त्त निकलवाना भी अन्धविश्वास है ?

सुखदा–हाँ, मुहूर्त्त निकलवाना भी अन्धविश्वास है। क्योंकि समय की गति सूर्य द्वारा ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन होती है। सारा समय एक जैसा है, उस में न शुभ है न अशुभ। वही समय या मुहूर्त्त शुभ है जो मनुष्य की अपनी सुविधा के अनुकूल हो। मुहूर्त्त निकलवाने का अन्धविश्वास दुनिया में केवल हिन्दुओं में और वह भी कुछ हिन्दुओं में है। बाकी सारी दुनिया बिना मुहूर्त्त के काम और अनुष्ठान कर रही है। जब उन को कोई बाधा नहीं होती तो रूढ़िवादी हिन्दुओं को क्यों होगी ? जो लोग मुहूर्त्त निकलवाकर विवाह करते हैं, उन को भी कष्ट होता है, उन के भी तलाक होते हैं। जो मुहूर्त्त निकलवाकर दुकान करते हैं उन को भी हानि होती है। फिर मुहूर्त्त निकलवाने का क्या लाभ हुआ? सुख-दु:ख अपने व्यवहार, प्रयत्न, परिश्रम, कर्मफल पर आधारित हैं। जो मुहूर्त्त नहीं निकलवाते वे कुछ वर्षों में महाधनी बन जाते हैं, जो मुहूर्त

निकलवाते हैं वे भी गरीब हो जाते हैं। इस से सिद्ध है कि उन्नति या सफलता में मुहूर्त्त कारण नहीं है। यह केवल भ्रान्ति और अन्धविश्वास है। भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है उसे विचार कर बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य ही करने चाहिएं। बुद्धि को कुण्ठित करने वाले भ्रान्ति और अन्धविश्वास के कार्य नहीं। सन्त कबीर ने एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण देकर मुहूर्त्त के मिथ्यापन को सिद्ध किया है–

कर्म गति टारे नाहीं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी शोध के लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को बन में विपत्ति परी।

कर्म और परिश्रम से फल मिलता है। दशरथ के पास वसिष्ठ जैसे ज्ञानी ऋषि थे जिन्होंने विवाह का मुहूर्त्त शोधकर रखा। पर परिणाम क्या हुआ ? सीता को राम के साथ वन में चौदह वर्ष तक धक्के खाने पड़े। सीता का रावण द्वारा हरण हुआ। राम के वनवास के कारण दशरथ की मृत्यु हुई। यद्यपि राम के काल में मुहूर्त्त नहीं निकाला जाता था किन्तु समझाने के लिए कबीर ने उदाहरण दिया है, क्योंकि योग्य वर-वधू का चयन तो महर्षि वसिष्ठ, महर्षि विश्वामित्र, राजर्षि दशरथ और राजर्षि जनक जैसे विद्वानों ने मिलकर किया था। तब भी विपत्तियां सहनी पड़ीं। अतः मुहूर्त्त के चक्कर में पड़ना बुद्धिमानी नहीं है।

पहले लोग यात्रा का भी मुहूर्त्त निकलवाकर घर से निकलते थे। आज कोई नहीं निकलवाता। रेलें, बसें, वायुयान, पानी के जहाज यात्रियों से भरे रहते हैं। रोजाना प्रत्येक दिशा में जाते हैं। उन के भी काम और व्यापार होते हैं। उन्होंने यह अन्धविश्वास छोड़ दिया है। उन का कुछ नहीं बिगड़ा। अपितु कार्यव्यस्तता और व्यापार 'दिन दूनी, रात चौगुनी' गति से बढ़ा है। जो जितना शीघ्र इस भ्रान्ति और अन्धविश्वास के चक्कर से निकलेगा, वह उतना ही मुक्त होकर उन्नति करेगा अन्यथा भ्रम में भटकता रहेगा। धन और समय का लाभ दूसरे उठा लेंगे।

मुहूर्त्त कितना मिथ्या है, इस का अनुमान इस से भी लगता है कि अधिक पैसे देते ही पण्डित जी मनचाहा मुहूर्त्त निकाल देते हैं। तब वह मुहूर्त्त का अशुभपन कहां चला जाता है ?

दृष्टान्त—मुहूर्त के अन्धविश्वास में पड़ने से कभी-कभी कितनी अधिक हानि होती है और उस का कितना अधिक दूरगामी दुष्परिणाम होता है, इस सच्चाई को एक ऐतिहासिक घटना से समझा जा सकता है। मुहम्मद गजनवी यह सुनकर लूट के इरादे से भारत में आया कि भारत सोने की चिड़िया है। वहां अपार धन है, सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात भरे पड़े हैं। उस समय समृद्धि में गुजरात में स्थित सोमनाथ के मन्दिर की ख्याति थी। वह गजनी से चलकर सोमनाथ पहुंचा। वहां के राजा के दूतों ने गजनवी के आक्रमण की सूचना दी। राजा ने सेनापतियों और ज्योतिषियों से परामर्श मांगा। पोंगापन्थी ज्योतिषियों ने राजा को बहका दिया कि 'महाराज ! अभी युद्ध करने का शुभ मुहूर्त नहीं है। आप चिन्ता न करें, भगवान् सोमनाथ स्वयं शत्रु को मार डालेंगे। जो उस की मूर्तियों को हाथ लगायेगा, मन्दिर को ध्वस्त करेगा, उसे सोमनाथ के देवी-देवता स्वयं विनष्ट कर देंगे।'

तत्कालीन राजा भी अन्धविश्वासी थे। पुजारियों-ज्योतिषियों के बहकावे में आकर राजा हाथ पर हाथ धर कर बैठ गया। गजनवी बिना रुकावट के नगर में प्रवेश कर गया और सोमनाथ के मन्दिर में पहुंचा। मूर्तियों के सामने हाथ जोड़कर शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना करते पण्डे-पुजारियों को पकड़ा, पीटा और जान से मारा। सोमनाथ-मन्दिर की मूर्तियों और तहखानों में सोना-चांदी, हीरे-जवाहरात भरे थे। उस ने मूर्तियों को तोड़ा, तहखानों को लूटा और मन्दिर की स्वर्णमूर्तियों तथा रत्नों को सैकड़ों ऊंटों पर लादकर अपने देश में ले गया। सोमनाथ के देवी-देवता और मूर्ख ज्योतिषी कुछ न कर सके। सारे धन को और राज्य को लुटवा दिया। वह कई बार आया और लूटकर जाता रहा। कायर और मूर्ख लोग लुटते रहे। मुहूर्त और मूर्तिपूजा का अन्धविश्वास लोगों को इस तरह कायर, कमजोर और विचारहीन बना देता है।

झाड़-फूंक

यशोदा—बहुत-से लोग झाड़-फूंक करके रोगों को ठीक करते हैं। आज भी उन के पास लोग आते हैं और उन में बहुत-से ठीक भी होते हैं। चेचक को माता रोग मानकर माता के रूप में

पूजा करके ठीक किया जाता था। इनमें कुछ तो शक्ति होती ही होगी ?

सुखदा–झाड़-फूंक भी कोरा अन्धविश्वास है। मैंने आपको एक उपाय बताया था इस बात की परीक्षा करने का कि कौन-सा काम सही है। वह यह कि तर्क से परीक्षा करके देखें कि काम और कारण का आपस में क्या सम्बन्ध है। जिस का परस्पर सम्बन्ध नहीं, वह मिथ्या है। झाड़-फूंक का रोग के ठीक होने या न होने से कोई सम्बन्ध नहीं। इस भ्रम में पड़कर अज्ञानी लोग कितने रोगों को असाध्य बना लेते हैं और कितने ही मौत के मुंह में चले जाते हैं। जो दवा लगाने या पिलाने से अपना प्रभाव शरीर में पैदा करती है, वह रोग पर रोधक प्रभाव डालती है। झाड़ने-फूंकने मात्र से यदि रोग ठीक होता तो न दवाओं के बनाने की आवश्यकता थी न अस्पताल की। यदि कोई झांड़-फूंक के बाद अपने आपको ठीक अनुभव करता है तो उस का कारण उस की मानसिक स्थिति है। वह अन्धविश्वास के कारण थोड़ी देर कल्पना में ही ठीक अनुभव करता है, रोग ठीक नहीं होता। झाड़-फूंक वाले स्वयम् अज्ञानी होते हैं, उन्हें न रोग का पता है, न उपाय का। वे किसी का रोग क्या ठीक करेंगे ? अपना पेट पालने के लिए पाखण्ड करते हैं और पेट भरते हैं।

इसी तरह किसी रोग को माता देवी मानना भय की उपज है। अज्ञानी लोग जहां-जहां से भय होता है, उस को देवी-देवता मानकर पूजने लग जाते हैं, जो बुद्धि का दिवालियापन है। रोग जड़ है, उसे किसी की पूजा-अनादर का क्या पता ? पहले चेचक रोग महामारी के रूप में फैलता था। डरे हुए अज्ञानी लोगों से जब उपाय-उपचार न बनता तो उसे देवी या शक्ति मानकर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाते। आज ऐसी अनेक महामारियां दवाइयों की सहायता से नष्टप्राय: हो चुकी हैं। अज्ञानी-अन्धविश्वासी लोगों को सोचना चाहिए कि अब उन की माता (चेचक) कहां गयी ? और फिर माता कभी किसी की जान लेती है? चेचक जैसे जानलेवा रोग को माता कहकर ममतामयी 'माता' के नाम का भी तिरस्कार किया है। ऐसे ही सभी रोगों के बारे में समझना चाहिए।

इसी प्रकार सभी प्रकार की भ्रान्तियों और अन्धविश्वासों को तर्क-प्रमाण से पहले परखना चाहिए और फिर उन को त्याग देना चाहिए। इन भ्रान्तियों से जो अज्ञात भय मन में बैठ गया है उस को बेहिचक निकाल देना चाहिए। आत्मविश्वास, सत्यज्ञान और ईश्वरभक्ति से आपका मन सदा प्रसन्न रहेगा।

कुरीतियां

यशोदा—यह तो हुई भ्रान्तियों की चर्चा। कृपया यह भी बतायें कि कुरीति किसे कहते हैं?

सुखदा—कुरीति भी अज्ञान, अन्धविश्वास, स्वार्थ और मिथ्या ज्ञान के कारण उत्पन्न होती और फैलती है। जब कोई उक्त प्रकार का विचार व्यक्तिगत स्तर पर न रहकर परिवार, समाज और राष्ट्र के स्तर पर प्रथा का रूप धारण कर लेता है तो वह 'कुरीति' कहलाती है। कु+रीति का अर्थ है—बुरी या हानिकर रिवाज। ऐसी बहुत सारी कुरीतियां हमारे समाज में प्रचलित हैं जो परिवार, समाज, राष्ट्र की व्यवस्था को हानि पहुंचा रही हैं। बुद्धिमान् और धार्मिक सज्जन को चाहिए कि उन को तुरन्त छोड़ दे। विस्तारभय से यहां केवल उन का नामोल्लेख ही किया जा रहा है।

जैसे-बालविवाह, बहुविवाह, अनमेल विवाह, खरीद-बेच का विवाह कुरीतियां हैं। ये रोग-उत्पादक और सन्तान परम्परा का ह्रास करने वाली हैं। विवाह में दहेज लेना कानूनी के साथ सामाजिक अपराध है। इस के परिणाम स्त्री जाति के लिए घातक हैं। सतीप्रथा भी एक क्रूर अमानवीय प्रथा है जिसे कानून के द्वारा बन्द करके पुण्य का कार्य किया गया है। सतीप्रथा का समर्थन करना राक्षसी काम है। ऐसे समर्थक, मनुष्य के चोले में राक्षस होते हैं। जो पुरुष इसे धर्म का कार्य मानते हैं वे इस बात का उत्तर दें कि वे 'सती' क्यों नहीं होते? स्त्रियों को ही क्यों करते हैं?

सभी प्रकार के व्यसन, जैसे—शराब, गांजा, सुल्फा, अफीम, तम्बाकू (हुक्का, बीड़ी, सिगरेट, चिलम आदि के रूप में), हेरोइन आदि का सेवन तन-मन के स्वास्थ्य का तथा धन का विनाशक और गृहशान्ति को भंग करने वाला है। जुआ खेलना भी दुर्व्यसन है। प्राणियों का वध करके अपना पेट भरना अर्थात् मांसाहार, अण्डे आदि खाना और धर्म की आड़ में पशुओं की बलि देना जैसे

कार्य क्रूर एवं पापपूर्ण अपराध हैं। ये राक्षसी कार्य हैं।

इसी प्रकार जाति-पांति की मनोवृत्ति रखना, ऊंच-नीच, छूत-अछूत का व्यवहार, कन्या, दलित आदि किसी को शिक्षा न देना, धार्मिक अनुष्ठानों के अधिकार से वंचित करना, स्त्री-शूद्रों को वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से वर्जित करना, ये भी सामाजिक कुरीतियाँ हैं।

भ्रान्तियों और कुरीतियों को दूर करने का उपाय

यशोदा–बहन, समाज में ये तो अनेक कुरीतियां और भ्रान्तियां फैली हुई हैं। इन को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

सुखदा–इन को दूर करने का उपाय है–संगठित होकर इनके विरुद्ध शिक्षा देना और जनजागृति पैदा करना। शिक्षा से ही ये भ्रान्तियां मिट सकती हैं। भ्रान्ति-उन्मूलक साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना करते समय इन सुधारों को भी प्रमुख लक्ष्य बनाया था। आज आर्यसमाज सब से अधिक सक्रिय और सुधारक संस्था के रूप में कार्यरत है। आप उस में सम्मिलित होकर उन के विरुद्ध आवाज उठा सकती हैं और जागृति पैदा कर सकती हैं। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों को पढ़ने से सभी प्रकार की भ्रान्तियां और अन्धविश्वास दूर हो जाते हैं। बौद्धिक विकास होता है, तर्कशक्ति प्राप्त होती है, प्रमाण उपलब्ध होते हैं । वैदिक संस्कृति-सभ्यता, साहित्य का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है और सही मार्गदर्शन मिलता है। आप उन्हें पढ़ सकती हैं। उन में सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, उपदेश-मञ्जरी, व्यवहारभानु विशेष मार्गदर्शक हैं। लगभग सवा सौ वर्षों से आर्यसमाज ने इस दिशा में महान् कार्य किया है। आर्यसमाज की कृपा से ही स्त्रियों, दलितों, पिछड़ों को शिक्षा, सम्मान, समानता प्राप्त हुई है। मैं भी उसी की कृपा से वेद-शास्त्रों का ज्ञान अर्जित कर पायी हूँ। चाहें तो आप भी प्राप्त कर सकती हैं।

यशोदा–बहन, मुझे अनुभव हो गया है कि यही सत्यज्ञान है, यही व्यक्ति, परिवार और समाज के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

मैं भी आर्यसमाज के साथ मिलकर इस दिशा में प्रयास करूंगी।

आपने सत्य ज्ञान देकर मेरी आंखें खोल दीं। अब मैं अपने परिवार और समाज को भी यह ज्ञान दूंगी। आपने बहुत समय देकर मेरी जिज्ञासाओं का समाधान किया है। आपने मेरी जीवनधारा ही बदल दी है। थोड़े में लगभग सभी जिज्ञासाओं का समाधान कर दिया है। मैं सदा के लिए आपकी कृतज्ञ रहूंगी।

सुखदा–कोई बात नहीं बहन! यह तो मेरा कर्त्तव्य था। दूसरों को बांटने से ही विद्या-प्राप्ति की सार्थकता है।

यशोदा–अच्छा बहन, नमस्ते! समय-समय पर आपसे फिर मिलती रहूंगी।

सुखदा–नमस्ते बहन! आप कभी भी आइये, आपका स्वागत होगा।

(यशोदा अपने घर लौट जाती है। सुखदा स्वाध्याय और गृहकार्यों में संलग्न हो जाती है। यशोदा ने निश्चय किया है कि पहले वह अपने परिवार के सदस्यों को सारी बातें समझायेगी। फिर समय की सुविधा से भ्रान्ति और अन्धविश्वास में फंसे लोगों को ज्ञान देकर उन से बचायेगी। अब वह भी तर्कों-प्रमाणों को सुनकर किसी बात को तर्क के आधार पर परख सकती है। अब उसे कोई भ्रमित नहीं कर सकता क्योंकि अब वह स्वयं विदुषी बन गयी है।)

॥ इति ॥